

सन्तमत्र-प्रवेशिका

[प्रसादी]

सन्त-सद्गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज
(फतहगढ़ निवासी)

रामाश्रम सत्संग
सिकन्दाबाद (उ० प्र०)

सन्तमत-प्रवेशिका

[प्रसादी]

सन्त-सद्गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज
(फतहगढ़ निवासी)

रामाश्रम सत्संग
सिकन्द्राबाद (उ० प्र०)

विश्व-विद्यालय

प्रकाशक :

भाचार्य रामाश्रम सत्संग

सिकन्द्राबाद (उ० प्र०)

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : २.५०

मुद्रक :

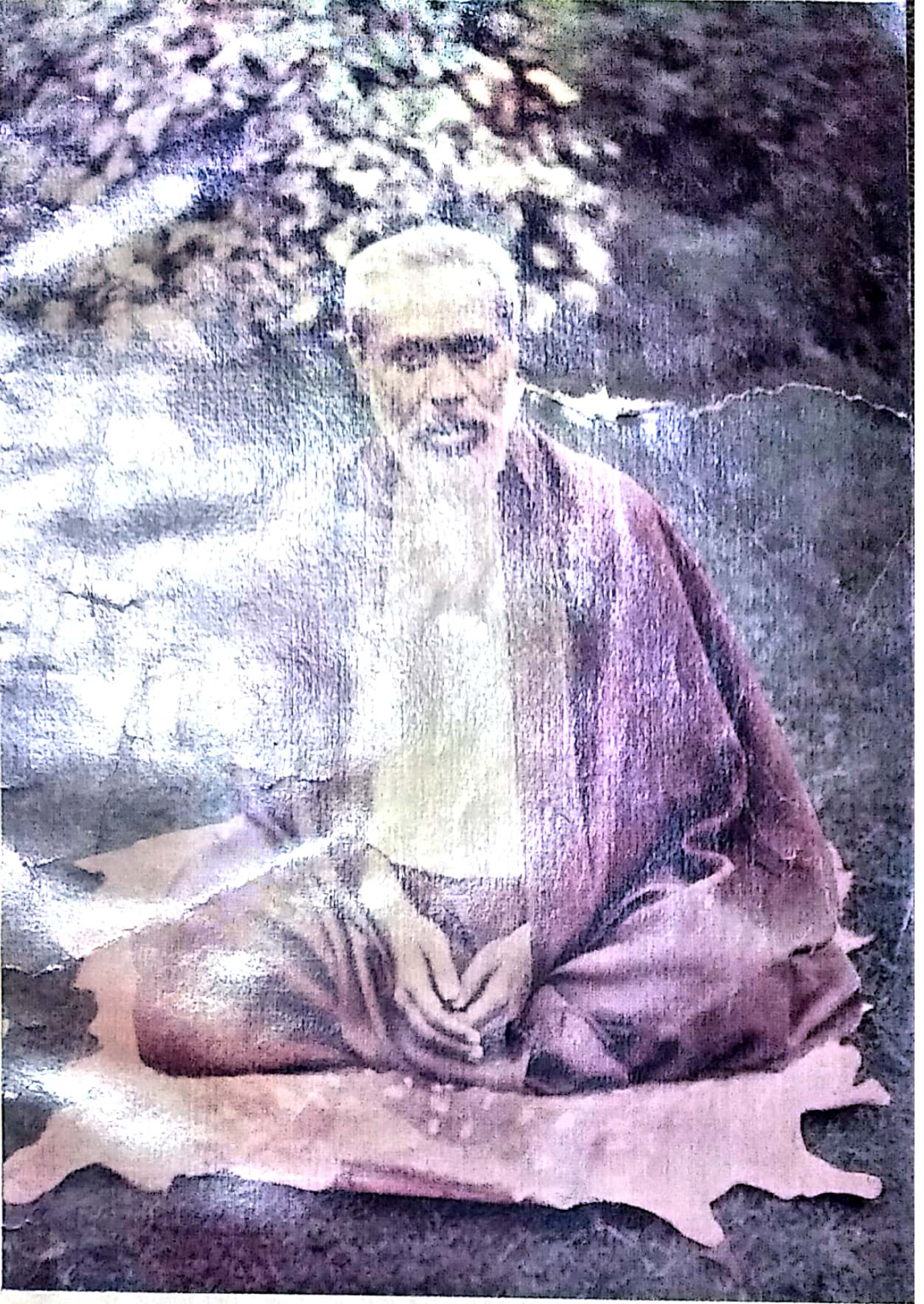
नवीन प्रेस

दिल्ली-६

विश्व-विद्यालय
सिकन्द्राबाद

सूची

परिचय	१
लेखक की भूमिका	१
आपका धर्म क्या है ?	६
आपका मत क्या है ?	२०
अभ्यासियों को कौनसी पुस्तकें पढ़नी चाहिए	४२
सन्तमत क्यों धारण करना चाहिए	४७
सन्तमत के अनुसार रहनी-सहनी तथा लोक-व्यवहार	६१
सन्तमत के अनुयायी तथा अन्य मतों के महात्मा	७१
क्या आपके माता-पिता आपके विचारों को भली भाँति समझते हैं या नहीं ?	७९
धर्मपत्नी और विचारधारा	८१
वैवाहिक नियम	८२
आर्थिक सामर्थ्य और दानवृत्ति	८६
लोक-व्यवहार में सुधार	९०
मनुष्य का उद्देश्य	९२



समर्थ गुरु श्री महात्मा रामचन्द्र जी

परिचय

प्रिय पाठकगण,

परमसन्त सद्गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतहगढ़ निवासी, (जन्म १८७३ ई० निर्वाण १९३१ ई०) अपने समय के महान सन्तों में से एक थे। वे सूफ़ी मत, सन्त मत तथा वेदान्त के गूढ़ रहस्यों से भली भाँति परिचित थे। अपने जीवनकाल में आध्यात्मिक अनुभवों के द्वारा उन्होंने इन मतों की पेचीदा गुत्थियों को खूब सुलझाया। आध्यात्म विद्या की बारीकियों को वे कितनी सरलता से समझाते थे, इस बात को वे ही सज्जन भली भाँति जानते हैं जिन्हें उनके चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। एक ही बार के समझाने में सारे संशय इस प्रकार मिट जाते थे जिस प्रकार प्रकाश के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है। फिर किसी धार्मिक ग्रन्थ को देखने की आवश्यकता नहीं रहती थी। ऊँचे अभ्यासियों को उनके प्रश्न का उत्तर देते समय साथ ही साथ उसका अनुभव भी करा देते थे और बता देते थे कि जो तुमने पूछा है उसका यह रूप है। इस प्रकार की योग्यता किसी विरले सन्त में होती है। महात्माजी युगप्रवर्तक अवतारी महापुरुष थे। ऐसे सन्त लगभग हजार या बारह सौ वर्ष में एक बार प्रकट होते हैं। महात्माजी कहा करते थे कि मेरा मत ईश्वर का प्रेम है। जात-पाँत से बहुत ऊँचे थे। पक्षपात उन्हें छू भी नहीं गया था। मनुष्य की रहनी सहनी पर वे विशेष बल देते थे। उनका कथन था कि जो व्यक्ति अपनी रहनी-सहनी नहीं बना सकता वह ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं

है, इसलिये रहनी-सहनी को पहले ठीक करना चाहिये। रहनी-सहनी का ठीक करना (character formation) यह है कि मनुष्य की इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सन्तुलन में रहें और धर्म-शास्त्र के अनुसार कार्य करें।

महात्माजी के जीवन का उद्देश्य आध्यात्म विद्या को जन-साधारण तक पहुँचाना था। अपने इस मिशन को उन्होंने अपनी अन्तिम श्वांस तक जारी रखा। जन साधारण के व्यस्त जीवन को ध्यान में रख कर वर्तमान काल के उपयुक्त उन्होंने सन्तमत का नवीनीकरण किया। प्राचीन रूढ़ियों को निकाल कर वेदान्त तथा सूफ़ी मत का समन्वय करके उन्होंने सन्त मत को अत्यन्त सरल तथा सुगम बना दिया। इस मत का स्तर धर्म की संकुचित और हीन दशाओं से ऊपर है। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी व्यवसाय में हो, गृहस्थ, विरक्त, बालक, बूढ़े, महिलायें, सभी, सब समय में, सब परिस्थितियों में उसका अभ्यास करके आध्यात्म विद्या का लाभ उठा सकते हैं। इसका लक्ष्य है आत्मा को मन और माया के जाल से निकाल कर ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना। धर्म-निरपेक्षता, चरित्र-निर्माण, सन्तों का सत्संग तथा आन्तरिक अभ्यास महात्माजी के मिशन की विशेषतायें हैं। उनका मत प्राचीन सन्तमत है, जिसका द्वार सबके लिये समान रूप से खुला है। यही कारण है कि इस मत में हिन्दुओं के अतिरिक्त जैन, सिख, ईसाई, मुसलमान आदि धर्मों के मानने वाले भी प्रचुर संख्या में सम्मिलित हैं।

इस मत की संस्थायें 'रामाश्रम सत्संग' के नाम से भारत के विभिन्न नगरों में विद्यमान हैं और महात्मा जी के मिशन को पूरा कर रही हैं। इनमें सैकड़ों जिज्ञासु परमार्थ लाभ कर रहे हैं। इन संस्थाओं को वाह्य आडम्बरों तथा सांसारिक आकर्षणों से सदा से दूर रखा गया है जिसका आशय केवल यह है कि जो

लोग वास्तव में अध्यात्म विद्या के प्रेमी हैं वे ही लाभ उठायें, संसार तथा सांसारिक वस्तुओं के इच्छुकों की भीड़-भाड़ कम रहे।

प्राचीन ऋषियों के काल से यह प्रथा चली आ रही है कि प्रत्येक मत या पन्थ का एक संघ अथवा संगठन होता है। विभिन्न विचारधाराओं के मनुष्य जब एक जगह एकत्रित होते हैं, किसी एक महापुरुष के चरणों में बैठ कर अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान करते हैं, धार्मिक गोष्ठियाँ होती हैं तब जिज्ञासुओं का यह समाज एक संगठित रूप धारण कर लेता है। एक दूसरे के प्रति सद्भावना और प्रेम बढ़ने लगते हैं और जब सब समान विचारधारा के हो जाते हैं तो सामूहिक रूप से अपने लक्ष्य की ओर, जो सब का एक होता है, बड़ी तीव्रता से अग्रसर होने लगते हैं। बिना संगठन के उन्नति में तीव्रता नहीं आती। ऐसे ही संगठित समाज को संघ अथवा पन्थ कहते हैं और प्रत्येक पन्थ के कुछ नियम तथा अनुयायियों के लिये एक आचार-संहिता होती है।

महात्माजी का विचार था कि वे अपने जीवन काल में अपने प्रेमियों के समाज को एक सुदृढ़ तथा संगठित रूप दें। इस आशय से उन्होंने एक फार्म गश्ती चिट्ठी के रूप में निकाला था। इस फार्म के विभिन्न शीर्षकों पर उन्होंने विस्तृत टिप्पणी की है। किस आशय से कौनसा शीर्षक रखा गया है, उसका धार्मिक तथा आध्यात्मिक विश्लेषण क्या है, यह सब उस टिप्पणी में आपको मिलेगा। मूल पुस्तक उर्दू तथा फ़ारसी भाषा का सम्मिश्रण है क्योंकि उन दिनों इसी मिश्रित भाषा का प्रचलन था। वर्तमान काल में उसको समझना जन साधारण के बस की बात नहीं है। अतः अध्यात्म विद्या के प्रेमियों, विशेषकर सत्संगी भाइयों के कल्याणार्थ, उन शीर्षकों को टिप्पणियों सहित रूपा-

न्तरित करके सरल भाषा में प्रस्तुत करना इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है ।

प्रस्तुत पुस्तक आध्यात्म विद्या से भरपूर है । न तो ऐसे महान सन्त ही नित्य आते हैं और न ऐसी पुस्तकें ही नित्य लिखी जाती हैं । अतः मेरा विनम्र निवेदन है कि जो सज्जन इसे पढ़ें, वे भली भाँति इसकी गहराई में जायें और उसके तथ्यों को समझ कर अपने जीवन में व्यवहारिक रूप देने का प्रयत्न करें । मैं प्रभु के दरवार में प्रार्थना करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि सच्चाई तथा लगन के साथ इसका अध्ययन करने से आशातीत आध्यात्मिक उन्नति होगी ।

सेवक,

श्रीकृष्ण लाल

आचार्य, रामाश्रम सत्संग,

सिकन्द्राबाद (उ० प्र०)

सिकन्द्राबाद,

दिनांक १६ मई १९६८ ई०

लेखक की भूमिका

यह संसार परिवर्तनशील है। प्रतिक्षण परिवर्तन होने का नियम कुछ ऐसे निरन्तर क्रम से चल रहा है कि प्रत्येक नाशवान वस्तु जाने या अनजाने, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसके वज्रपाश में जकड़ी हुई है। उसमें आकर्षण प्रत्याकर्षण है, आदान-प्रदान है, न्यूनाधिक्य है, गमनागमन है, किन्तु इनके अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु भी इन सबके भीतर छिपी हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक आकर्षण तथा प्रत्याकर्षण के साथ स्थिरता भी है, न्यूनाधिक्य के साथ समता भी है; गमनागमन के साथ ठहराव भी है। यदि कोई वस्तु पैदा होकर क्रमशः विनाश को प्राप्त होती है तो कुछ समय के लिए उसका पालन-पोषण भी होता है और वह स्थिर भी रहती है। 'भूत' और 'भविष्य' केवल तुलनात्मक शब्द हैं और 'वर्तमान' स्थिति इन दोनों की सम्मिलित तथा मध्य की स्थिति है।

यह त्रिगुणात्मक नियम अथवा सिद्धान्त अपने गुणी पर आधारित है। गुण-गुणी के साथ तथा उसके आश्रित रहते हैं। सारांश यह है कि गुणों में परिवर्तन है आर यह गुण जिसके आश्रित रहते हैं वही सर्वाधार है जिसे सूफ़ी लोग 'ज्ञात' कहते हैं और जिसमें परिवर्तन का नियम पृथक् रहता है, अर्थात् उस पर लागू नहीं होता।

ध्यानपूर्वक देखिये, कभी आप प्रसन्न हैं और कभी दुखी हैं, कभी शान्त हैं तो कभी अशान्त हैं, कभी दुर्बल हैं तो कभी बलवान हैं, कभी निर्धन, कभी धनाढ्य, कभी स्वस्थ, कभी रोगी, आदि आदि। किन्तु यदि हम दोनों विपरीत दशाओं को पृथक्-पृथक् देखने लग जायें तो प्रत्येक दशा की तह में दूसरी विपरीत

दशा लगी हुई पायेंगे। जहाँ सुख है वहाँ दुख का भय मौजूद है, शान्ति में अशान्ति भासती है। यह क्रम बड़ी उलझन में डाल देता है। किन्तु वास्तव में यह हमारी दृष्टि का दोष है और हमारी खोज का साधन त्रुटिपूर्ण है जिसके कारण कभी यह ग्रन्थि सुलझने पर नहीं आती।

वास्तव में दुख सुख का, अशान्ति शान्ति का, रोग स्वास्थ्य का अशक्त तथा दोषपूर्ण पहलू है। यदि हमारी प्रसन्नता सीमा को पार कर जाय तो आँसू निकल आयेंगे। उसी क्षण रोना आजायगा। शक्तिहीनता तथा दोषपूर्णता अपने यथार्थ की प्रतिविम्ब हैं। 'अंश' में दोष है किन्तु 'सम्पूर्ण' दोषरहित है। 'सम्पूर्ण' में समता है और 'अंश' में न्यूनाधिक्य। वास्तव में समता की स्थिति में शान्ति है और न्यूनाधिक्य तथा प्रत्याकर्षण की दशाओं में दोष है। यदि कोई वस्तु अपनी यथार्थता से हट गई तो उसमें समता स्थिर नहीं रहती। यदि कोई वस्तु बढ़ जाये तब भी उसमें दोष है और यदि घट जाये तब भी वह दूषित है। जब दोनों स्थितियों से हटकर समता की दशा उत्पन्न हो जाती है तो प्रश्न न्यूनाधिक्य, अंश और सम्पूर्ण दोनों का जाता रहता है तथा मन में शान्ति पैदा हो जाती है। आप स्वयं परीक्षा कर लें। यदि प्रसन्नता सीमा को लाँघ जाती है तो भी बेचैनी नहीं जाती और आगे बढ़ने का साहस रहता है। यदि प्रसन्नता में कमी है तब भी व्याकुलता और अकुलाहट रहती है।

आपको ज्ञात है कि जन्मते समय शिशु प्राकृतिक स्वभाव लेकर जन्मता है। उसके पश्चात् उसके माता-पिता तथा समाज जिसमें वह रहता है, उसको जैसा चाहते हैं बना देते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के मूल प्राकृतिक स्वभाव को समाज के प्रभाव ने, जलवायु ने, यहाँ की शिक्षा ने तथा उसके कर्मों ने कुछ ऐसा बना दिया है कि वह अपनी वास्तविकता से हजारों कोस दूर

जा पड़ा है। उसी मूल स्वभाव को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है, अनेकों उपाय करने पड़ते हैं, स्कूल और विद्यालयों में जाना पड़ता है। मूल स्वभाव जिसको दूसरे शब्दों में चरित्र, सदाचार, इखलाक कहते हैं, फिर से पैदा करने के लिए पहले पुस्तकों से, फिर अभ्यास से और सन्तों के सत्संग से सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती है।

वर्तमान काल में जिज्ञासुओं तथा ईश्वर-प्रेमियों के समागम का आशय धार्मिक गोष्ठियाँ करना, ईश्वर की कृपा तथा दया का अनुभव करना, ज्ञान प्राप्त करना तथा परमानन्द में विभोर रहना हो तो निश्चय ही वही एक उपरोक्त नियम अथवा सिद्धान्त इस समय लागू होता है।

हमारे इस आध्यात्मिक समाज में पूर्ण तथा अपूर्ण दोनों प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित हैं, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशेष कला में पूर्ण है तो दूसरी कलाओं में अपूर्ण है। सम अवस्था तो केवल किसी व्यक्ति विशेष में, जिस पर ईश्वर की अनन्त और असीम कृपा हो, पाई जाती है। इसका ज्ञान तो सिवाय उस एक पवित्र परमेश्वर के किसी और को नहीं हो सकता और न उसके जानने की आवश्यकता है। यहाँ तो पूर्ण तथा अपूर्ण व्यक्तियों के समागम का आशय इस समय केवल यह है कि परमेश्वर की कृपा और प्रेम के अधिकारी बनें। उससे प्रार्थना करें, विगत महात्माओं तथा महापुरुषों का अनुग्रह प्राप्त करें जिससे जो समय अब तक संघर्ष तथा उपाय करने में व्यतीत हो चुका है उससे अधिक सरल तथा लाभदायक उपाय भविष्य के लिए सोचें, उन उपायों को व्यवहारिक रूप देने की नीयत बाँधें और एक ऐसा कार्यक्रम तैयार करें जो विगत काल की तुलना में हमारे लिए अधिक लाभप्रद हो, हमें उन्नत करे। अपनी पिछली त्रुटियों तथा दोषपूर्ण व्यवहार पर झुरें और

पछतायें। दया और प्रेम का आश्रय लें। सांसारिक व्यवसाय और व्यवहार के क्रमों को परमार्थिक तथा आध्यात्मिक साँचे में ढालने का प्रयत्न करें जिससे सांसारिक बाधायें पैदा न हों और हमें परमार्थ पथ पर अग्रसर होने में सहायता मिले।

हमारे आध्यात्मिक वंश के विगत महापुरुष जिनकी कृपा से हमें यह ईश्वरीय विद्या तथा ज्ञान प्राप्त होने का अवसर प्राप्त हुआ है, हमारा अब भी मार्गप्रदर्शन करते हैं। हम उनकी पवित्र आत्माओं को अपने पुण्य अर्पण करें तथा उनके लिए सामूहिक रूप से प्रार्थना करें। हमारे इस जिज्ञासु समाज का एक समय में एक स्थान पर एकत्रित होने का यही आशय है और इसी के कारण सब लोग दूर-दूर से प्रेम, विश्वास तथा श्रद्धापूर्वक अपना समय तथा धन व्यय करके एक जगह जमा होते हैं। जो फार्म मैंने आप सबके पास भेजा है उसका क्रम तथा उसकी भाषा बड़ी सरल प्रतीत होती है किन्तु मेरा विश्वास है कि वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रत्येक शीर्षक तथा उसकी टिप्पणी में एक विशेष रहस्य छिपा हुआ है। मुझे आशा है कि वह बहुत लाभदायक सिद्ध होंगे। इसका कारण यह है कि वास्तव में वह मेरे और मुझसे नहीं हैं वरन् किसी विशेष आध्यात्मिक ईश्वरीय कृपा के आलोक की किरणें हैं और यह किसी ऐसी विगत पूर्ण आत्मा की देन हैं जो 'सम्पूर्ण' में लय है, अन्यथा मैं क्या और मेरा ज्ञान क्या? किसी सूफी सन्त का कथन है:—

जमाले हमनशीं दरमन असरकद,

वगरना माहुमा खाकम कि हस्तम।

(भावार्थ—मेरे प्रियतम की महती कृपा ने मेरे ऊपर प्रभाव डाला है, अन्यथा मैं तो वही रजकण हूँ जो पहले था)।

तलैया लैन, फतहगढ़ (यू० पी०)

रामचन्द्र

आपका धर्म क्या है ?

(सनातनी, आर्यसमाजी इत्यादि, सनातन धर्म से
क्या अभिप्राय है ?)

अपनी पिछली तथा वर्तमान स्थिति पर ध्यान दें तो एक प्रश्न स्वतः सामने आयेगा कि इस धरातल पर पदार्पण करने से पूर्व आप कहाँ थे । यदि हम मनुष्यों के स्वभाव तथा उनकी वर्तमान दशा पर तर्क-वितर्क करने लग जायें, शास्त्रों में वर्णित त्रिगुणात्मक विषय का अध्ययन करें; सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय, उसके आदि और अन्त के बड़े गूढ़ सिद्धान्तों को समझने में अपना समय और मस्तिष्क लगा दें तो हममें से प्रायः कोई ऐसा मस्तिष्क, ऐसी स्मरण-शक्ति, ऐसी विद्या और इतना समय नहीं रखता जो समुद्र को नाप लेने का तथा समस्त ब्रह्माण्डों के ज्ञान प्राप्त करने का साहस कर सके । अतः अच्छा यही प्रतीत होता है कि मोटी बातों पर जो साधारण बुद्धि की समझ में आ सकें, ध्यानपूर्वक विचार करें ।

एक समय वह था कि बच्चा अपनी माता की कोख के संसार में विश्राम कर रहा था । उसकी बैठक तथा विश्राम का ढंग यह था कि वह उल्टा लटका रहता था । चारों ओर से वह रगों, नाड़ियों तथा माँस के टुकड़ों की जंजीरों में जकड़ा हुआ झिल्ली के आवरण में लिपटा हुआ पड़ा रहता था । उसका पालन-पोषण माता के रक्त से होता था । उसके लिए हवा केवल कुछ नालियों तथा टूंडी द्वारा पहुँचती थी । प्रकाश की जगह अन्धकार उसके

भाग्य में था। सारांश यह है कि संसार की इस दशा की तुलना पेट के बच्चे (Fetus) की दुनियाँ के साथ करने के उपरान्त हम तुरन्त कह सकते हैं कि उसका ठिकाना केवल एक अन्धकार-मय संकुचित कारागार था, अन्य कुछ नहीं।

किन्तु, एक ऐसा समय भी आया जब उसने माँ के पेट की दुनियाँ से मुँह फेर लिया और उसके लिये वह मौत के नमूने से कम नहीं था। किन्तु क्या वास्तव में यह मृत्यु थी अथवा नये जीवन में प्रवेश पाने के लिये एक पलटा? अब इस संसार की धरती पर वह अपना पग रखता है, तंग और अन्धकार-मय संसार में अपने आपको जकड़ा हुआ पाने की बजाय वह एक खुले हुए, विशाल, प्रकाशित वातावरण की ताज़ी हवा में साँस लेता हुआ पाता है। उसको यहाँ हाथ-पाँव हिलाने, हँसने-रौने और बोलने की स्वतन्त्रता है, भोजन के रूप में भी परिवर्तन है। इससे पूर्व उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सिकुड़ी और दबी हुई पड़ी थीं जैसे बीज के भीतर वृक्ष की शाखाओं तथा फूल-फल के अस्तित्व का अनुमान रहता है। किन्तु अब इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों में चेष्टा तथा स्फुरण-स्पन्दन होने लगता है। उसमें अंकुर, कोपलें, पत्तियाँ तथा शाखायें निकलने के पश्चात् फल-फूल अपने-अपने समयानुसार आने लगते हैं। बच्चे की इस प्रथम अवस्था को, जिसमें अब स्फुरणा उत्पन्न हुई है, 'तमोगुण' अवस्था की पहली हरकत कहते हैं। सूफ्रियों ने इसको 'नपसे-अम्मारा' कहकर पुकारा है। यह तमोगुण इस नई देह के पहले जीवन में दबा पड़ा था और चेष्टा करने का कोई साधन न था। अब इस जीवन में विस्तार तथा प्रसार का अवसर मिलता है। यह अवस्था प्राकृतिक और स्वाभाविक है जिसकी प्रथम चेष्टा में यह विशेषता है कि वह मनुष्य को बुराई की ओर प्रवृत्त करती है और यह प्रवृत्ति मनुष्य को अपनी पूर्णता तथा चारित्रिक उन्नति की

विपरीत दिशा में ले जाती है। आशय यह है कि असन्तुलन एवं दोषों की ओर जाना मनुष्य की एक अवस्था है और यह अवस्था चारित्रिक गुण उत्पन्न होने से पूर्व ही स्वभावतः उस पर आरूढ़ रहती है। यह अवस्था उस समय तक स्वाभाविक कहलाती है जब तक मनुष्य बुद्धि तथा ज्ञान का सहारा लेकर नहीं चलता। बुद्धि और ज्ञान से रहित मनुष्य पशुओं की भाँति व्यवहार करता है, उसके लिये वही व्यवहार स्वाभाविक है, जैसा कि बालकों में देखने में आता है। वे छोटी अवस्था में, जब तक उनकी बुद्धि विकसित नहीं होती और सांसारिक आवश्यक वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता, चौपायों की भाँति चारों हाथ-पावों के बल चलते हैं, उनके सोने, जागने क्रोध तथा आवेश दिखाने के ढंग भी प्रायः उसी प्रकार होते हैं जैसे पशुओं के। उनकी भावनायें जिस समय उभार खाती हैं और जिस ओर को ढल जाती हैं, वे रोके नहीं रुकते, जिसको 'बालहट' कहते हैं। यह पशु-जीवन है।

यह अवस्था एक विशेष काल तक रहकर पलटा खाती है। यह स्वाभाविक अवस्था की मौत है और फिर नव-जीवन की ओर पदार्पण करना है। यहाँ से मनुष्य बुद्धि तथा ज्ञान का उपयोग करता है, प्रत्येक बात पर मनन करता है, ऊँच-नीच, भला-बुरा सोचता है और सन्तुलन के लिये आधार बनाता है। इस अवस्था का नाम फिर 'स्वाभाविक' अवस्था नहीं रहता वरन् इसे चारित्रिक अवस्था कह सकते हैं क्योंकि इसमें चरित्र का गठन होने लगता है। अपनी दोष-पूर्ण तथा असन्तुलित दशा पर मनुष्य अपने आप को धिक्कारता है जिसके कारण उसको लज्जित, दुखी और खिन्न होना पड़ता है और ऐसा होने से उसे इनसे उन्नत होने की इच्छा उत्पन्न होती है। यह अवस्था 'रजोगुण' की है जिसे सूफियों में 'नफसे लव्वामा' कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि कभी अवनति करती है तो कभी उन्नति, कभी पीछे

हटती है तो कभी आगे बढ़ती है। इस अवस्था में मनुष्य का आगे बढ़ने तथा पीछे हटने की चेष्टायें जारी रहती हैं और उसे इनसे चैन तथा विश्राम नहीं मिलता। इस स्थिति में आकर उसे पशु-जीवन से मुक्ति मिल जाती है। अब उसे यह अच्छा नहीं लगता कि अपनी स्वाभाविक अवस्था में वह बिना नकेल के ऊँट की तरह चलता रहे और पशुओं का सा जीवन व्यतीत करे। वह इच्छा करने लगता है कि पशु-जीवन से ऊँचे उठकर उसमें सद्गुणों तथा सदाचार का प्रकाश और विकास हो, मनुष्य-जीवन के समस्त व्यवहारों में किसी प्रकार के असन्तुलन की झलक न आवे और स्वाभाविक इच्छायें बुद्धि का सहारा लेकर प्रकट हों। रजोगुण पशुओं जैसे प्राकृतिक स्वभाव को पसन्द नहीं करता और अपनी उस पूर्व दशा पर अपने आपको धिक्कारता है किन्तु उत्तम और अच्छी बातों को व्यावहारिक रूप देने के लिये पूर्णरूप से कटिबद्ध भी नहीं हो सकता। कभी न कभी उसकी स्वाभाविक प्रकृति यानी तामसी अवस्था उसके ऊपर छा जाती है जिसके प्रभाव में आकर वह अवनति को प्राप्त होता है और ठोकर खाता है। फिर अपनी कमी और दोषों पर दुखी होता है, पछताता है। रजोगुण की यह ऐसी स्थिति होती है जिसमें मनुष्य उत्तम सदाचारी वृत्तियाँ एकत्रित करता है तथा चरित्र की हीन तथा दोषपूर्ण अवस्थाओं से दुखी होकर ऊबने लगता है किन्तु उन पर पूर्णतया आरूढ़ नहीं हो पाता।

इस अवस्था के पश्चात् एक तीसरे स्रोत का उदय होता है। यह अवस्था मनुष्य को आत्मिक दशाओं की ओर संकेत करती है और इसे सन्तों ने 'सतोगुण' तथा सूफियों ने 'नफ़स-मुतमय्यन' कह कर सम्बोधित किया है। इस अवस्था को कोई-कोई सतोगुणी-प्रधान अवस्था भी कहते हैं जिसमें मनुष्य का मन विकार-रहित हो जाता है। वह ईश्वर से राज़ी, ईश्वर उससे

राजी। यह वह अवस्था है जिसमें मन अपनी समस्त दुर्बलताओं से छूटकर आत्मिक शक्तियों से परिपूर्ण हो जाता है और अपने ईश्वर से एक ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है कि उसके बिना जीवित ही नहीं रह सकता। जिस प्रकार आरम्भ में ऊपर से नीचे, अर्थात् भलाई से बुराई की ओर वहता था, अब अपनी त्रुटियों के दूर हो जाने पर परमात्मा की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार वह उलटधार होकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है। इस जीवन में, न कि मृत्यु के उपरान्त, एक महान परिवर्तन अपने-आप में उत्पन्न करता है और इसी संसार में, न कि किसी दूसरी जगह, एक स्वर्ग की प्राप्ति उसे होती है। वह अपने सच्चे पालनकर्ता प्रभु की ओर पलटता है। पहले माता के दूषित रक्त से उसका पालन होता था, अब ईश्वर का प्रेम उसका आहार होता है, उसी जीवन-स्रोत के अमृत का निरन्तर पान करता रहता है और ऐसे द्वार में प्रवेश पा जाता है जहाँ मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है।

यहाँ तक मनुष्य की कहानी है जो उसके प्राकृतिक स्वभाव तथा सदाचार सम्बन्धी पहलुओं पर प्रकाश डालती है जो जन्म से मृत्यु तक परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु जन्म-मरण का क्रम समाप्त नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक की यह सब अवस्थायें अस्थायी हैं। न तो इन पर मनुष्य का कोई वश है और न वे ईश्वरीय ही हैं। जन्म और मृत्यु की विभिन्न अवस्थायें जिन पर मनुष्य का वश है और जो ईश्वरीय भी हैं, अब आरम्भ होने वाली हैं।

यदि मनुष्य अपनी प्राकृतिक तथा सदाचार-सम्बन्धी प्रचण्ड भावनाओं से मुक्त होकर आत्मिक तथा सतोगुणी दशा को प्राप्त हो जाय तो यह समझ लेना चाहिये कि उसे रजोगुण से छुटकारा मिल गया। किन्तु हृदय की सच्ची शान्ति और वहाँ ठहराव

अभी प्राप्त नहीं हुआ। जब तक लय होने का गुण और अपने असली भण्डार से मिलने की निरन्तर चेष्टा उसे धुरधाम अथवा परमलक्ष्य पर ले जाकर स्थित न कर दे तब तक भटकने का भय रहता है। जब तक महेश-शक्ति या शिव-शक्ति अपनी गोद में न ले ले उस समय तक सम्पूर्ण की स्थिति प्राप्त नहीं होती। इस शिव-शक्ति अथवा महेश-शक्ति को सूफ़ियों में 'मालिके-योमुद्दीन' (अन्तिम दिन का मालिक) कहा गया है। इस स्थिति तक पहुँचने में मनुष्य की केवल तीन बाह्य दशाओं में परिवर्तन हुआ है। पहली दशा में मनुष्य कंकड़-पत्थर और वनस्पति के रूप में था। दूसरी दशा में मनुष्य पशुरूप, पाषाण-रूप, वनस्पति रूप तथा किसी सीमा तक मनुष्य था। तीसरी दशा में वह मनुष्य रूप में मनुष्य है किन्तु अभी पूर्णतयः 'मनुष्य' नहीं बना।

प्रत्येक तीन दशाओं के परिवर्तन होने में उसको मृत्यु का स्वाद लेना पड़ा है और नवीन जीवन की सुहावनी पहेलियों से जूझना पड़ा है। अपने वर्तमान जीवन में मनुष्य को 'पूर्णता' प्राप्त करने के लिये न मालूम कितनी सीढ़ियाँ जन्म और मृत्यु की पार करनी शेष हैं। उस समय तक जब तक साधारण मृत्यु न आ जाय, पूर्णता प्राप्त करने के लिये हमको इसी चोले में मरना है। यह मरना मृत्यु से पहले मरना है। यह अवश्य है कि हमको साधारण मृत्यु के उपरान्त इससे अधिक सूक्ष्म तथा अधिक प्रकाशवान लोकों में प्रवेश पाना शेष है और न मालूम ऐसे कितने लोकों के आवरण हमको दूर करने हैं। इससे पूर्व कि हम एक पूर्ण-मनुष्य बनें और इन स्थितियों का ब्यौरे-सहित उल्लेख करें, यह बात निश्चित कर लेना तथा समझ लेना चाहिये कि यह उतार-चढ़ाव, स्थिति, गमनागमन है क्या भेद? यदि हम एक समय में एक ही साथ अधिक गहराई या ऊँचाई में चले जाने का साहस करते हैं तो इस बात का भय है कि

हमारा दम, (सम्भवतः हमारे प्राण) उस आकस्मिक परिवर्तन से फूल जाय या घुट जाय। अतः उचित यह है कि हम तनिक दम ले लें और विश्राम कर लें जिससे आगे चलने के लिये कटि-बद्ध होने का साहस हो सके।

इस चलने, रुकने, आगे बढ़ने या ठहर जाने से इस समय तक तो हम इस परिणाम तक पहुँच सके हैं कि लक्ष्य तक पहुँचने के लिये हम मार्ग में हैं। मध्य की स्थितियाँ हमारे ठहराव और विश्राम तथा आगे बढ़ने के पड़ाव हैं। अन्य कुछ नहीं। इसके आगे फिर रास्ता है, चलचलाव है, और कुछ नहीं।

मार्ग में अपने-आपको हिंसक पशुओं, चोरों और ठगों से सुरक्षित रखने के लिये, सर्दी-गर्मी तथा अन्यान्य कष्टों से बचने के लिये ऐसे साधन अपनाने होते हैं जिनसे रास्ता खोटा न हो जाय और अपने इच्छित लक्ष्य में कभी-न-कभी प्रवेश पा जायें। अतः वह मार्ग, उसके बीच के पड़ाव, संसार-भर के ऐसे साधन तथा प्रयत्न जिनके द्वारा सुरक्षित रह कर धुरधाम की प्राप्ति हो जाय, धर्म, मजहब और पन्थ कहलाते हैं। यह है थोड़े से शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर कि 'आपका धर्म क्या है' यद्यपि यह यथेष्ट नहीं है।

परमात्मा सम्पूर्ण ज्ञान तथा प्रकाश का अनन्त भण्डार है। वही परम दयालु है, न्यायी है, परम सत्य है तथा सदा स्थिर रहने वाला है। केवल एक वही पूर्ण है, शेष सब अपूर्ण हैं। मनुष्य में उस सम्पूर्ण व्यक्तित्व, सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुपम आनन्द की एक झलक मौजूद है किन्तु वह अपूर्ण है। उस सर्व-गुण-सम्पन्न परमेश्वर के न्यूनाधिक अंश की परछाईं भी उस झलक में मिली हुई है किन्तु वह गुप्त रूप में है। इसीलिये कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य की रचना अपने ही अनुरूप की। "पिण्डे सो ब्रह्माण्डे" अर्थात् जो ब्रह्माण्ड में है उसी की झलक

मनुष्य में संस्कारानुसार मौजूद है। उसकी दयालुता ने हमको अकेला नहीं छोड़ा है कि केवल अपनी ही शक्ति, पुरुषार्थ तथा बल के भरोसे हम उन्नति करें और पूर्णता को प्राप्त हों। हमारे जन्म लेने से पूर्व ही उसने अपनी दया से सब शक्तियाँ अत्यन्त सन्तुलित दशा में अंश रूप में हमारे भीतर प्रविष्ट कर दीं। चूँकि वे पूर्ण नहीं थीं अतः हमें विवेक बुद्धि भी दी कि अपने दोषों को देखें, पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करें, बुराई और भलाई का अन्तर समझ सकें। उसने कृपा करके हमें साहस भी प्रदान किया जिसके द्वारा निश्चयात्मक बुद्धि से हम नीचे से ऊपर को चढ़ सकें और ऊपर से नीचे की ओर गिरने से अपने-आपको बचाये रखें। उसकी इस दयालुता ने यह भी अन्तर नहीं रखा कि आस्तिक व नास्तिक के बीच रेखांकन करे। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ज्ञानेन्द्रियाँ, शरीर तथा उसके अवयव, स्वास्थ्य, पालन-पोषण के सब सामान, आहार, जल, वायु इत्यादि का पहले से ही प्रयोजन कर दिया। और फिर जन्मते समय बालक को एक मध्य की स्थिति प्रदान की। यही उसकी परम दयालुता है कि जन्म लेने से पूर्व ही यह सब आवश्यक वस्तुएँ हमारे पालन-पोषण के लिये उपलब्ध कर दी गईं। इस परम दयालुता के गुण को सूफ़ियों में 'सिफ़त रहमानियत' कहकर पुकारा गया है। हम चाहे कितने ही पथभ्रष्ट हो जायें, उससे कितने भी विमुख हो जायें, किन्तु जो वस्तुएँ उसने सबको समान रूप से प्रदान की हैं, वापिस नहीं ली जातीं।

इसके बाद जब हम अपनी दुनियाँ आप बना लेते हैं तो अपने मन, बुद्धि और आदतों में परिवर्तन कर लेते हैं। मध्य की स्थिति से बिछुड़ कर नई आदतें पैदा कर लेते हैं और इस तरह स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार लेते हैं। दुखों के जाल में फँसे रहकर पथभ्रष्ट हो जाते हैं और सदा के लिये मृत्यु की गहरी खाई

में जा गिरते हैं। किन्तु उसकी कृपा सदा हमारे साथ-साथ रहती है। यदि हम विवेक बुद्धि द्वारा फिर अपने खोये हुए मार्ग को खोज लेते हैं, पश्चाताप करके क्षमायाचना करते हैं, सच्चे हृदय से भविष्य में अपना आचरण शुद्ध रखने का व्रत लेते हैं तो पुनः उसकी कृपा से एक लहर और मौज उठती है जो हमें सीधे सच्चे मार्ग पर लाकर खड़ा कर देती है। यदि हम सच्चे हृदय से अनुनय-विनय करते हैं तो उसकी कृपा हमें सफलता के मार्ग पर दुबारा अग्रसर होने का अवसर देती है।

हमारा प्राकृतिक स्वभाव, परमेश्वर की दयालुता की शक्ति, विवेक बुद्धि, इच्छा-शक्ति हमारे जन्म से पूर्व तथा जन्म के उपरान्त भी हमारे साथ लगी रहती हैं और यह हमारे वश तथा अधिकार में नहीं है कि इनसे दूर भाग सकें, अतः यह सदा से हैं और सदा रहेंगी। इसीलिए इनको 'सनातन' कहते हैं। चूँकि उन्हें अपनाने के लिये हम नितान्त विवश हैं, उनसे दूर नहीं भाग सकते इसलिये उसे 'धर्म' कहते हैं। 'धर्म' धारण करने को कहते हैं और धारण करना यह है कि मन, वचन और कर्म से ऐसे कार्य न करें जिससे अपने-आपको तथा दूसरों को शारीरिक चारित्रिक तथा आध्यात्मिक कष्ट पहुँचे। 'धर्म' के लक्षण यह हैं कि ऐसे कर्म करें जिनके करने में या करने से पूर्व कोई सन्देह, आशङ्का, लज्जा और भय न हो। इसके ठीक विपरीत 'अधर्म' है। यह 'धर्म' शब्द 'धारणा' से निकला है जिसका अभिप्राय है किसी वस्तु को धारण करना या अपनाना। ऐसी वस्तु जिसको सदा से धारण करने के लिये हम विवश हैं और सदैव अपनाये रहना पड़ेगा 'सनातन-धर्म' कहलाता है। इसमें संसार भर के समस्त धर्म, मत, पन्थ आदि आ सकते हैं। कोई मत, पन्थ, सम्प्रदाय, मिल्लत, तरीका इससे पृथक नहीं हो सकता।

एक बात और ध्यान देने योग्य रह गई और वह यह है कि यह

जगत क्रिया-प्रतिक्रिया-शील है। इसका प्रत्यक्ष भी हैं अप्रत्यक्ष भी; बीज भी है, पोस्त भी है। व्यक्तित्व भी है, गुण भी हैं। यथार्थ भी है प्रतिबिम्ब भी है। अन्दर भी है, बाहर भी है। प्रकाश-अंधकार, भलाई-बुराई, तेज-निस्तेज, उपमा-उपमेय, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, परा-अपरा, व्यष्टि-समिष्ट, रहमान-शैतान इत्यादि सब इसमें विद्यमान हैं। जो आदर्श, ध्येय, लक्ष्य, सुमिरन-मनन, विद्याभ्यास, संघर्ष आदि मनुष्य को यथार्थ की ओर अग्रसर कर दे और धुरधाम तक पहुँचा दे, मार्ग में कोई बाधा न हो, वही 'सनातन-धर्म' है। यथार्थ अथवा सतपद से उसका सम्बन्ध है और यथार्थ (जिसे सूफियों में 'जात' कहा गया है) अविनाशी, अनादि और अनन्त है, अतः सनातन धर्म को अनादि और अनन्त कहा जाय तो कोई अत्योक्ति न होगी। इसके अतिरिक्त जो आदर्श और उपाय मार्ग में बाधा उत्पन्न करें और पथभ्रष्ट कर दें और अन्त में महाप्रलय तक पहुँचा दें जहाँ से पुनः जीवन-मरण का चक्र चल पड़े, वह गुण-अवगुणों से परिपूर्ण हैं और इन्हीं से उनका सम्बन्ध है। यह भी 'सनातन धर्म' के आधीन आते हैं क्योंकि प्रकाश व अन्धकार का सदा से साथ रहा है। गुणों के दो रूप रजोगुण और तमोगुण हैं। यह दोनों मनुष्य को विलम्ब से सद्मार्ग पर लाते हैं। किन्तु गुण का एक अन्य उच्चतम रूप 'सतोगुण' भी है जो तीव्रता से मनुष्य को अपने आदर्श की ओर अग्रसर करता है। यह सतोगुण एक ऐसा माध्यम है जो सनातन धर्म के दोनों छोरों को मिलाता है। मनुष्य को गुण-अवगुण के दोष से रहित करके यथार्थ तक पहुँचाता है। यथार्थ धर्म केवल सनातन धर्म को ही माना गया है यद्यपि अन्य धर्म वाले भी किसी न किसी प्रकार और कभी न कभी परमेश्वर के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करेंगे। किसी कवि ने कहा है :—

हर कि दाना कुनद, कुनद मादां,
लेके बाद अज़ हज़ार रुसवाई ।

(भावार्थ—जो काम बुद्धिमान मनुष्य करता है वही अन्त में मूर्ख को भी करना पड़ता है किन्तु सहस्रों बार लज्जित होने के पश्चात्) ।

शब्द 'आर्य समाजी' भी सनातन धर्म के अन्तर्गत स्वयं आ जाता है । रहा मतभेद, यह दूसरी बात है । इसकी व्याख्या आगे की जायगी । 'आर्य समाजी' नाम आर्यव्रत से सम्बन्ध होने के नाते रख लिया गया है । आजकल जिसको 'सनातन-धर्म' कहते हैं न वह सनातन-धर्म है और न आजकल के 'आर्य-समाज' का मतलब आर्यसमाज ही है ।

'इस्लाम' के अर्थ हैं ऐसा मार्ग जिसमें 'सलामत रबी' हो, सन्तुलन हो, एतक्राद-मुसल्लिम और मुकम्मिल हो, अर्थात् पूर्ण विश्वास हो । पूर्ण-विश्वास (जिसे मुसलमानों में ईमान और एतक्रादात कहते हैं) की सूक्ष्म व्याख्या यह है कि कुछ बातें ईमान-मुफ़स्सिल* के और कुछ ईमान-मुजम्मिल** के अन्तर्गत अनिवार्य रखी गई हैं जिनको व्यवहार में लाते रहने से बीच के रास्ते में सन्तुलन की व्यवस्था होकर, लोक और परलोक की मंज़िलें तै करके शीघ्रातिशीघ्र मनुष्य मंज़िले-मक़सूद (धुर-धाम) को प्राप्त कर लेता है ।



* ईमान मुफ़स्सिल = मैं ईमान लाता हूँ ऊपर अल्लाह के, मलायका के, कुतुब के, रसूलों के, और रोज़े क़यामत के ।

** ईमान मुजम्मिल = मैं ईमान लाता हूँ उसके नामों पर, उसकी हिदायत पर और अहकामात पर ।

आपका मत क्या है ?

(सन्तमत, रामानन्दी, कबीर-पन्थी, नानक-पन्थी, रामानुजी,
वैष्णवी, शैवी, शाक्त, इत्यादि)

इससे पूर्व यह कहा जा चुका है कि ईश्वर ने आदि-सृष्टि में अथवा सर्व प्रथम मनुष्य में अपने सम्पूर्ण गुणों को अंश अथवा प्रतिबिम्ब के रूप में प्रवेश किया। वे उस समय सन्तुलित दशा में थे, उन पर कोई आवरण नहीं था और वे एक दशा में स्थित थे। इसके पश्चात् पुरुष और प्रकृति के संयोग से तथा सामूहिक रचना के सम्पर्क में आकर उनमें न्यूनाधिक्य उत्पन्न हो गया। यह न्यूनाधिक्य का क्रम कुछ ऐसा अटूट चलता रहा कि कोई रोक-टोक न रही, वास्तविकता और यथार्थता में उलट-फेर हो गया, कौनसी वस्तु असली है और कौनसी नकली—यह पहचान करना बड़ा कठिन हो गया। इसको और स्पष्ट समझ लीजिये। पाषाण आदि जड़ पदार्थों, वनस्पतियों, जीव जन्तुओं और पशुओं की योनियों से निकल कर जीव मनुष्य योनि में आया है। अतः उसमें सबके अणु और लक्षण विद्यमान हैं। उसके स्थूल शरीर का प्राणों सहित ढाँचा विभिन्न बातों का एक ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण है जिसकी खोज करना तथा उसका ज्ञान प्राप्त कर लेना बड़ा कठिन काम है। जब तक उसके गुण-अवगुण, भली-बुरी अवस्थायें, चारित्रिक दशा, आदि सन्तुलित स्तर पर न आ जायें तब तक वास्तविकता (actual picture) क्या है, यह जान लेना अत्यन्त कठिन है।

बालक का जन्मते ही उसकी आदतों और भावनाओं का उभार ज्वार भाटे के उदाहरण हैं। उसमें प्रत्येक बात को नक़ल करके सुविधानुसार अपने ऊपर उतार लेने का गुण मौजूद है। अतः उसकी विद्या सर्वप्रथम अपने माता पिता के घर से आरम्भ होती है, दोष-निवृत्तिका सर्व-प्रथम श्रेय उसकी माता को होता है और माता तथा पिता दोनों ही उसके प्रथम गुरु होते हैं। जिस समाज में बालक पलता है उसका अनुकरण करता है और उसी के अनुरूप उसकी चित्तवृत्तियाँ तथा बुद्धि बनती हैं। बालक की दूसरी शिक्षा उसकी आयु तथा योग्यता के अनुसार स्कूल तथा कालेजों में होती है जहाँ वह विभिन्न विद्यायें सीखता है, भिन्न-भिन्न बातों में उसके विश्वास की पुष्टि होती है, उसका आचरण बनता है, सिद्धान्तों को सीखता तथा विभिन्न मान्यताओं को प्राप्त करता है। इस प्रकार की विद्या पुस्तकों पर, दूसरों के अनुकरण से प्राप्त व्यक्तिगत अनुभव पर और प्रत्यक्ष प्रमाणों पर आधारित है। यहाँ उसके मन, बुद्धि तथा चित्त की शिक्षा प्रत्यक्ष रूप से पुस्तकों तथा भाषणों द्वारा होती है। इन विभिन्न विद्याओं का मूल पाठ इस सिद्धान्त से रहित नहीं है कि बालक निर्बल है, दोषपूर्ण है तथा अपूर्ण भी। उसकी निर्बलता और दोषों को दूर करके उसे पूर्णता के स्तर पर पहुँचाना है।

यह निर्बलता और दोष बालक में तब दृष्टिगोचर होते हैं जब इसकी तुलना किसी अन्य अस्तित्व से की जाती है। उसको विस्तार पूर्वक इस प्रकार समझ लीजिये। मनुष्य का शरीर जिसे पिण्ड कहते हैं, नक़ल है ब्रह्माण्ड की और ब्रह्माण्ड नक़ल है अपने असली ज्ञात या मूलतत्त्व की। इसका आशय यह हुआ कि मनुष्य ब्रह्माण्ड की तुलना में निर्बल तथा दोषपूर्ण है जिन्हें दूर करने के लिये संघर्ष, पुरुषार्थ, विद्योपार्जन, पठन-पाठन आदि का क्रम आवश्यक है। परमार्थ की दृष्टि से सुमिरण, मनन, ध्यान

तथा सतसंग आध्यात्मिक विद्योपार्जन के आवश्यक अंग हैं ।

यदि यह निर्बलता दूर हो गई तो दोष जाता रहा । निर्बलता और दोष यह हैं कि सन्तुलन मौजूद नहीं है । न्यूनाधिक्य की अवस्था हो गई है । निर्बलता तथा दोष या तो आनन्द में हैं या ज्ञान में या अमरत्व प्राप्त होने की इच्छा में हैं ।

अमर जीवन के आनन्द की चाह प्रत्येक मनुष्य में है जिसका कारण यह है कि उसमें दोष है । उसको दूर करने के लिये दुनियाँ भर के उपाय हैं । मनुष्य के बालपन की शिक्षा से लेकर कालिज की शिक्षा, दर्शन शास्त्र, विज्ञान आदि का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी क्या कोई दावे से यह कह सकता है कि अब उसकी तृप्ति हो गई, अब उसे आनन्द तथा सुख की आवश्यकता नहीं रही और विद्या तथा ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा नहीं रही और अब उसे अपने जीवित रहने की भी इच्छा नहीं है । मैं कह सकता हूँ कि समस्त इच्छायें कभी समाप्त होने पर नहीं आतीं । जितनी इच्छायें समाप्त होती हैं उससे कहीं अधिक बढ़ जाती हैं ठीक उसी प्रकार जैसे "मर्ज बढ़ता गया ज्यूं ज्यूं दवा की ।" जब मनुष्य देख लेता है कि समस्त इच्छायें पूरी नहीं हुई, सांसारिक विद्यायें तथा ज्ञान प्राप्त करके भी उसकी इच्छाओं का भण्डार समाप्त नहीं हुआ, तो उसके मन में ऐसी विवशता, बेचैनी तथा अशान्ति घर कर लेती है कि उसे कहीं पग धरने की जगह नहीं मिलती । स्वप्न में भी चैन नहीं मिलता, सोते जागते वही बेचैनी और अशान्ति बनी रहती है । जब इससे ऊबने लगता है तो अपनी चेतना को खो देना चाहता है जिससे कुछ काल के लिये इस बेचैनी से पीछा छूटे । सम्भवतः नशेबाज़ी की टेव का आविष्कार इसी कारण हुआ हो जिसकी आदत पड़ कर अब उसका रूपान्तर हो गया है । कृत्रिम सुख और आनन्द की स्थिति उत्पन्न करने के लिये और थोड़े समय के लिये बेचैनी दूर करने

के लिये मदिरा, भाँग, धतूरा, चरस, अफीम आदि के प्रयोग की रीति चल पड़ी। किन्तु क्या इससे असली मतलब निकला ? जो इसका फल हुआ या होता है वह प्रत्यक्ष है। निष्कर्ष यह निकला कि वास्तविक स्थिति निद्रा तथा अचेतनता की उत्पन्न की जाय। उसी की खोज में चल पड़े। मन की इस बेचैनी को दूर करने तथा हृदय की शुद्धि के लिये सर्व प्रथम ऋषियों ने कर्मकाण्ड को लिया, वेदों को रचना हुई और उनमें कर्म को प्रधानता दी गई।

कर्मकाण्ड भी दोषपूर्ण सिद्ध हुआ। इसके पश्चात् ऋषियों ने उपनिषदों में कर्मकाण्ड का विरोध किया और कर्म को अज्ञान तथा अन्धकार की श्रेणी में ठहराया। सम्भवतः वह इस कारण किया हो कि कर्मकाण्ड में बलि आदि जैसी कुप्रथायें विना सोचे समझे प्रचलित हो गईं। उपनिषदों में बलि के विषय को भली प्रकार समझाया गया है जिसका सम्बन्ध ज्ञान से है और ज्ञानकाण्ड का प्रारम्भ यहीं से हुआ है।

उपनिषदों में भी विभिन्न प्रकार के तर्क-वितर्क किये गये हैं अतः उनमें आपस में भी सहमति नहीं है। इस असहमति अथवा भेद को दूर करने के लिये पादरायण ने अपने ग्रंथ वेदान्त सूत्र में सारे उपनिषदों के विचारों की एकता प्रदर्शित की है। वेदान्तसूत्र का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र है जिसकी मूल रचना करने वाले महर्षि वेदव्यासजी हैं।^१ इसके पश्चात् श्री शंकराचार्यजी हुए जिन्होंने उसे और अधिक उज्ज्वल किया। इसके सौ वर्ष बाद गौड़पादाचार्य की परम्परा में एक अन्य शंकराचार्य पैदा हुए हैं जो वेदान्त के सबसे बड़े पक्षपाती हुए हैं। उपनिषदों का ज्ञान अधिकतर वैराग्य से सम्बन्ध रखता है। उनमें वैदिक रीतियों का (जैसे आचरण, अभ्यास, आदि) का वर्णन नहीं किया गया है। इसके पश्चात् बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ। महाराज

१. पादरायण नाम है व्यास ऋषि का जिन्होंने वेदान्त सूत्र बनाये।

शिवदेवजी ने बलि की प्रथा समाप्त की। बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् विभिन्न सम्प्रदाय चल पड़े।

ब्राह्मणों ने कर्मकाण्ड को प्रधानता दी और उसकी ओट में अपने भरण-पोषण का साधन जुटाया। क्षत्रियों ने ज्ञानकाण्ड को अच्छा समझकर उसे अपना लक्ष्य बनाया। प्रथम दर्शनशास्त्र का नाम 'पूर्व-मीमांसा' रखा गया अर्थात् 'कर्मसूत्र' जिसका आरम्भ जेमिनी ऋषि से हुआ। ज्ञान के दर्शनशास्त्र का नाम 'उत्तर-मीमांसा' पड़ा। ज्ञान कुरेद करने या तलाश करने से प्राप्त होता है, अतः यह ज्ञान का प्रथम सोपान हुआ जिसका आरम्भ व्यास ऋषि से हुआ।

वेदान्त ज्ञान की खोज में प्रथम चरण है। वह स्वयं ज्ञान नहीं है। प्रथम चरण को उत्तर-मीमांसा कहते हैं और अन्तिम को वेदान्त।

शंकराचार्यजी ने यह प्रतिपादन किया कि प्रत्येक धर्म के दो भाग होते हैं। प्रथम तत्त्व-ज्ञान और दूसरा आचरण तथा अभ्यास। प्रथम में मनुष्य के पिण्ड शरीर के विचार से परमेश्वर के स्वरूप को निर्धारित करके मोक्ष का निर्णय किया जाता है। द्वितीय में इस बात पर विचार किया जाता है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए कौन-कौन से साधन तथा उपाय हैं अर्थात् इस संसार में मनुष्य को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए।

इनमें प्रथम बात तत्त्व-ज्ञान, जिसे सूफियों में इल्मे-हकीकत कहते हैं, की दृष्टि से शंकराचार्यजी का यह सिद्धान्त है कि जो जगत आँखों से दिखाई देता है, "मैं" और "तू" की परिधि में आता है अथवा यों कहा जाय कि संसार की तमाम वस्तुओं का बाहुल्य यथार्थ नहीं है। इन सबमें एक ही शुद्ध अद्वैत पारब्रह्म भरपूर है और उसकी माया से मनुष्य की इन्द्रियों को यह बाहुल्य प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य की आत्मा

ही वास्तव में पारब्रह्म-रूप है। तोसरी यह कि आत्मा और पारब्रह्म की एकता का पूर्णज्ञान हुए बिना कोई भी मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसको "अद्वैतवाद" कहते हैं। इस विषय का यह ध्येय है कि एक शुद्ध पारब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई भी स्वतन्त्र और यथार्थ में स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। मनुष्य के कर्म एवं संस्कारों की दृष्टि से एक अन्य सिद्धान्त भी है और वह यह है कि यद्यपि चित्त की शुद्धि के द्वारा ब्रह्म और स्वयं (आत्मा) का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्मृति ग्रन्थों में वर्णित गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को पूरा करना नितान्त आवश्यक है किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि जीवन-भर केवल इन्हीं कर्तव्यों को पूरा करता रहे क्योंकि इन सबको छोड़कर जीवन के अन्तिम भाग में सन्यास लिए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसका कारण यह बतलाते हैं कि कर्म और ज्ञान एक-दूसरे के उसी प्रकार विरोधी हैं जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश। अतः सब प्रकार की इच्छाओं तथा कर्मों (जिनके फल-स्वरूप संस्कार बनते हैं) का त्याग किये बिना ब्रह्म-ज्ञान की पूर्णता नहीं हो सकती। इस विषय को 'निवृत्ति-मार्ग' कहते हैं जिसका नाम सूक्तियों ने राहे-तर्क रखा है। सब कर्मों का त्याग करके केवल ज्ञान ही में निमग्न रहने को 'सन्यास-निष्ठा' या 'ज्ञान-निष्ठा' कहते हैं। इस सिद्धान्त का महावाक्य 'तत्त्वमसि' (वहतू है) है। अनुभव यह बतलाता है कि कर्म और ज्ञान मध्य के विषय हैं और जब तक परमार्थ के अधिकारी इनसे होकर नहीं निकलेंगे तब तक तत्त्वज्ञान का अनुभव कठिन होगा। इस कारण कई अन्य दर्शन-शास्त्र रचे गये। विभिन्न दर्शनों के मानने वाले अपने-अपने दर्शनशास्त्रों को पूर्ण तथा अन्तिम समझने लगे और आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी।

उपनिषदों ने जिन बातों को संकेत रूप में कहा बुद्ध भगवान्

ने उनको व्यवहारिक रूप दिया। शंकराचार्य ने विचार की आवश्यकता मस्तिष्क में बैठाई और अन्त में थोथे ज्ञानी रह गये जो अधिकतर ज़बानी जमा-खर्च में पड़े रहे।

मायावाद, भ्रमवाद, परिणामवाद, मिथ्यावाद, निवृत्तिवाद इत्यादिवादों की अनेक शाखायें हैं। उलझनें बहुत हैं जिनके कारण विवश होकर इन सबको अनिर्वचनीय कहानी कहकर अपना पीछा छुड़ाना पड़ा। जितना अधिक तर्क-वितर्क और शास्त्रार्थ का ज़ोर होता है सब यहीं आकर समाप्त हो जाता है। वेदान्ती यह कहते हैं कि यह जगत मिथ्या है। 'मिथ्या' कहना ही स्वयं मिथ्या है क्योंकि मिथ्या नकारवाद (Negative) शब्द है। नकार (Negative) को सकार (Positive) में लाना भयंकर भूल है। दूसरी बात यह है कि जब सिद्धान्त ही यह है कि एक के अतिरिक्त दूसरे का अस्तित्व है ही नहीं तो फिर दूसरा कौन है जो इसको सही करके दिखाना चाहता है और यह किस प्रकार सम्भव है? अद्वैत-वाद जिसे सूफ़ी 'तौहीद' कहते हैं, का विषय स्वयं एक को नहीं मानता। एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करना द्वैतवाद की गहरी खाई में गिरना है। जहाँ दो होते हैं वहाँ एक दूसरे की सुनता है तथा एक दूसरे से कहता है और जहाँ दो नहीं वहाँ उनका कहना सुनना, समझना जानना, कैसे सम्भव है? यह जगत हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है, हम इसमें व्यवहार कर रहे हैं, इसको मिथ्या सिद्ध करना केवल बातों का काम नहीं है और जब लोग यह प्रश्न करते हैं कि 'क्यों भासता है' तो उत्तर दिया जाता है कि माया के भ्रम के कारण ऐसा भासता है। यदि इस उत्तर को ठीक भी मान लिया जाय तो यह प्रश्न स्वयं उठता है कि, 'माया क्या है?' इसका उत्तर यह है कि यह 'बाँझ के लड़के', 'आकाश के फूल' और 'मृग-तृष्णा' के समान है। यह सब भी ठीक समझ

लिया जाय तो भी यह सब मिथ्या ही मिथ्या है और मिथ्या को सिद्ध करने के लिए किसी वस्तु की समानता का सहारा क्यों लिया जाता है ?

फिर यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि जगत भासता किसको है ? वेदान्ती इसका कोई उत्तर नहीं देते । यदि वे कहें कि “ब्रह्म को भासता है” तो ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति उन्हीं के कथन से सिद्ध हो जाती है । जब उत्तर नहीं बन पड़ता तो ‘अनिर्वचनीय’ कह कर टाल देते हैं ।

वास्तव में वेदान्त को समझने के लिये अनुभव ज्ञान (कश्फ़) की आवश्यकता होती है जो मनुष्य में मौजूद है और जिसे आत्मिक ज्ञान कहते हैं । सूफ़ी लोग इसे अक्ल-कुल्ली कहते हैं । इन्द्रिय-ज्ञान से यह समझ में नहीं आता । अज्ञान का आवरण इन्द्रिय-ज्ञान की उधेड़बुन से दूर नहीं होता । किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें उसी प्रकार के साधनों का प्रयोग करना पड़ता है, इसी प्रकार आध्यात्मिक साधनों द्वारा भ्रम मिट जाता है, तत्व-ज्ञान की समझ स्वयं आ जाती है और यदि आरम्भ की दशा में साधक की शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय तथा क्रमशः अभ्यास बढ़ता जाय और अनुभव खुल जाय या इस अनुभव पर पहुँच जाय तो वेदान्त का विषय ठीक है । बिना अभ्यास के अनुभव नहीं होता और बिना अनुभव के यह विषय ठीक प्रकार समझ में नहीं आता ।

बौद्धों के दर्शन-शास्त्र में एक शब्द ‘शून्य’ आता है जिसे सन्तों में ‘सुन्न’ या ‘महासुन्न’ कहते हैं । इस ‘शून्य’ का अर्थ ग़लती से ‘ख़ाली’ (ख़िला-Vacuum) कर लिया गया । जब बौद्धों ने यह कहा कि इस जगत की उत्पत्ति ‘शून्य’ से है तो शंकर स्वामी ने तुरन्त उन्हें निरुत्तर कर दिया कि जब कोई वस्तु ख़ाली है तो उसके ख़ाली होने का ज्ञान किसको है ? बौद्ध सोचने

लगे। तब तक हँसी-हँसी में उन्हें निरुत्तर कर दिया और शंख बजा कर अपनी विजय की घोषणा कर दी। इस 'शून्य' का अर्थ सूफ़ियों ने 'अदम' या 'नेस्त' किया है जिसका साधारण मतलब है 'न होना'। किन्तु 'न होने' का आशय यह नहीं है कि वहाँ अस्तित्व नहीं है। उस शून्य अथवा नेस्त में भी अस्तित्व है किन्तु वहाँ ज्ञान का अभाव है जिसके कारण 'शून्य' अथवा 'नेस्त' शब्द का अर्थ नहीं हो सकता।

इसके उपरान्त मायावाद, अद्वैतवाद तथा संन्यास की शिक्षा का प्रभाव रहा। फिर रामानुजाचार्य जी प्रगट हुए। श्री शंकराचार्य तथा श्री रामानुजाचार्य जी के सिद्धान्तों में बहुत साधारण नाम मात्र का अन्तर है। केवल पारस्परिक हठ के कारण द्वेष उत्पन्न हो गया है अन्यथा दोनों ही एकेश्वरवाद के पक्षपाती हैं। शंकर स्वामी कहते हैं कि जो कुछ है चेतन है और वह अद्वैत है। एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है—एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति। इसको सूफ़ी भाषा में 'वहदत' कहते हैं। रामानुजाचार्यजी का कथन है कि अद्वैत तो है किन्तु यह अद्वैत-पन जड़ और चेतन दोनों की छाप लिये हुए है। यदि वह इससे रहित होता तो फिर जगत में जड़ और चेतन का प्राकट्य न होता। उत्पत्ति और सृष्टि एक सी होती। यह दोनों (जड़ और चेतन) मटर के दोनों दलों की भाँति जुड़े हुए एक हैं। जब दोनों की ओर दृष्टि होती है तब दो दृष्टिगोचर होते हैं, और जब दोनों के मिले हुए एक रूप को देखते हैं तो फिर एक के सिवाय और कुछ नहीं दिखाई देता। यही द्वैत तथा अद्वैत है। ध्यानपूर्वक देखें तो यह अन्तर कोई महत्व नहीं रखता। जो यथार्थ है वह मटर के अनुरूप है जिसमें दो दल मिले रहते हैं। जब वे पृथक हो गये तो एक को पुरुष तथा दूसरे को प्रकृति का नाम दिया गया। उन दोनों के योग से इस जगत का प्राकट्य हुआ।

श्री रामानन्द जी का यह विश्वास है कि अद्वैत का सिद्धान्त झूठ है तथा यह कहना कि माया मिथ्या है ठीक नहीं है। जीव, जगत और ईश्वर यह तीनों यद्यपि भिन्न हैं तो भी जीव और जगत दोनों एक ही ईश्वर के अंग हैं। जीव का दूसरा नाम चित तथा जगत का अचित है जिसे सूफ़ियों ने क्रमशः जी-इल्म और बे-इल्म कहा है। ईश्वर का अंग होने के कारण यह दोनों भी सूक्ष्म हैं। अतः श्री रामानन्दजी का यही निष्कर्ष है कि तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उसे “विशिष्टाद्वैत” कहते हैं। रचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो सब कुछ उसी से है जिसका नाम सूफ़ियों में “हमाअज़ओस्त” है। भक्ति और उपासना का मार्ग ठीक है, अभ्यास आदि कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं हैं। वे केवल ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं। उन्होंने अद्वैत के बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यास के बदले भक्ति का प्रतिष्ठान किया है। इस रामानन्दी पन्थ के आचार्यों ने यह अन्तर तो निर्धारित कर दिया किन्तु वास्तविक दृष्टिकोण से उन्होंने केवल भक्ति को ही अन्तिम कर्त्तव्य घोषित किया और अन्य सब साधनों के त्याग पर बल दिया।

उक्त दोनों आचार्यों का निष्कर्ष एक ही है। एक कर्म का त्याग करके केवल ज्ञान को ही मुख्यता देते हैं, दूसरे भक्ति को मुख्यता देते हैं। शेष सबको अन्त में त्याग कर देते हैं। दोनों ने ही कर्म का त्याग किया है। एक ने केवल ज्ञान को लिया और दूसरे ने केवल भक्ति को, और दोनों ने अन्त में कर्म का त्याग कर दिया।

श्री माधवाचार्य ने इसमें सुधार किया। उन्होंने द्वैताद्वैत सम्प्रदाय चलाया जिसका लगभग वही रूप है जो वर्तमान आर्य समाज का। उनका विचार है कि पारब्रह्म तथा जीव को कुछ अंश में एक तथा अन्य कुछ अंश में भिन्न मानना एक दूसरे के ऐसी विपरीत बात है जिसमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं। इसके

दोनों भागों को सदा भिन्न ही मानना चाहिए क्योंकि इन दोनों में पूर्ण तथा अपूर्ण, किसी तरीके से भी समानता नहीं हो सकती। इस तीसरे द्वैताद्वैत सम्प्रदाय का यह विश्वास है कि भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना अथवा न करना एकसा है। इसी को कर्म-फल त्याग कहते हैं। उनका कथन है कि परमेश्वर का ध्यान और भक्ति करने की अपेक्षा कर्म-फल का त्याग करके निष्काम-कर्म करना अधिक अच्छा है। इसका आशय यह है कि केवल भक्ति में भगवन्त तथा भक्त दोनों विद्यमान हैं। कर्म करते रहना चाहिये, उसके फल की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह कि निष्काम कर्म करना चाहिये।

माधवाचार्य जी के कई सौ वर्ष बाद श्री वल्लभाचार्य जी ने एक अन्य मत की नींव डाली जिसका नाम है "शुद्धाद्वैत"। यह वैष्णव-पन्थी हैं। जीव, जगत और ईश्वर के विषय में इनका विचार विशिष्टाद्वैत से भिन्न है। उनका विश्वास है कि माया से रहित शुद्ध जीव और पारब्रह्म एक ही वस्तु हैं, दो नहीं। इसलिये इसको शुद्धाद्वैत पन्थ भी कहते हैं। श्री शंकराचार्य की भाँति यह नहीं मानते कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं। माया परमेश्वर की इच्छा से विभाजित हुई है। यह एक शक्ति है। माया में फँसे हुए जीव को ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः मोक्ष का सर्वोच्च साधन भक्ति है। इसी कारण श्री शंकराचार्य जी के मत से यह पृथक हो गया। इस सम्प्रदाय में ईश्वर कृपा को 'पुष्टि' और 'पोषण' भी कहते हैं जिससे इसका नाम पुष्टि-मार्ग भी है। इसका सिद्धान्त यह है कि पहले ज्ञान, फिर कर्म और फिर भक्ति से काम बन सकता है। अतः पहले ईश्वर की भक्ति, फिर कर्म-फल-त्याग और फिर इन दोनों से सम्बन्ध रखने वाली पुष्टि-मार्ग की भक्ति करनी चाहिये। इसका निष्कर्ष यह है कि सब धर्मों का त्याग करके केवल एक

ईश्वर की शरण ले और उसकी इच्छा के अनुकूल व्यवहार करे तथा हर हाल में प्रसन्न रहे। इसे सूफ़ियों में राज़ी-ब-रज़ा कहते हैं।

इसके कुछ काल पश्चात निम्बार्काचार्य जी प्रगट हुए जिन्होंने राधा-कृष्ण की भक्ति को श्रेष्ठता दी। जीव, जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में निम्बार्काचार्य जी का यह मत है कि यद्यपि तीनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी जीव और जगत का व्यवहार तथा उनकी स्थिति ईश्वर की इच्छा पर आश्रित है। वे स्वयं स्वतन्त्र नहीं हैं। परमेश्वर में ही उनके सूक्ष्म तत्व विद्यमान रहते हैं।

रामानुज सम्प्रदाय की कई पीढ़ियों के बाद स्वामी रामानन्द जी प्रगट हुए जो अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र स्वभाव के थे। यहाँ से कबीर साहब का सम्प्रदाय आरम्भ हुआ। इस सन्त सम्प्रदाय के आगे जाकर बहुत से नाम हो गये। इनके यहाँ राम नाम की महिमा गाई गई है। इस महिमा का वास्तविक ज्ञान गुरु की कृपा से होता है। केवल पुस्तक-ज्ञान से वास्तविकता समझ में नहीं आती। इसमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। सतनाम, सतगुरु तथा सत्संग इस सम्प्रदाय के विशेष अंग हैं। 'सतनाम' नाम है सच्चे मालिक का जो आदर्श और इष्ट पद है। यह नाम एक प्रकारकी प्राकृतिक तरंग है जो मनुष्य के घट-घट में गूँज रही है। सुरत से इसका मेल हो जाने पर स्वतः आध्यात्मिकता आने लगती है। जहाँ थोड़ा सा भी आन्तरिक आनन्द आने लगा स्वयं आध्यात्मिक उन्नति का द्वार खुल जाता है। सन्तमत में इसी का अभ्यास कराया जाता है। रामानन्द जी ने राम नाम का अभ्यास तथा उसका जाप अर्थात् सुरत शब्द का अभ्यास कराया। इस मत में राम से तात्पर्य यह है कि वह राम जो सब जगह रमा हुआ है। कबीर साहब का इष्ट भिन्न है। उनका कहना है कि जगत में चार राम हैं :—

“तीन राम व्यवहार । चौथा राम निज सार है ।
ताको करो विचार ।”

एक राम दशरथ घर डोलै, एक राम घट घट में बोलै ।
एक राम का सकल पसारा, एक राम त्रिगुण से न्यारा ॥
आकार राम दशरथ घर डोलै, निराकार घट-घट में बोलै ।
बिन्दु राम का सकल पसारा, निरालम्ब सब ही से न्यारा ॥

रामानुज सम्प्रदाय वाले तीन राम की उलझन में पड़े हैं ।
इनको चौथे राम की सुधि नहीं है ।

तीन लोक को सब कोई ध्यावे, चौथे देश का सर्ग न पावै ।
चौथा छोड़ पंचम चित लावै, कह कबीर हमरे ढिग आवै ॥

तीन गुणन की भक्ति में भूल रहा संसार ।
कह कबीर सतनाम बिन कैसे उतरै पार ॥

कबीर साहब का राम वास्तव में सत-नाम है और सन्तों
का यही पाँचवाँ पद है । इन पाँचों के अन्तर्गत पंचाग्नि विद्या
का भेद छिपा हुआ है । अग्नि से आशय प्रकाश से है और नाम
ध्वन्यात्मक शब्द तथा यथार्थ है ।

जीवन में अभ्यास तथा स्वाध्याय दोनों की आवश्यकता है ।
केवल एक से काम नहीं चलता । यदि ध्यानपूर्वक देखें तो इनमें
एक सूक्ष्म भेद दृष्टिगोचर होता है । असली अभिप्राय तो अनेक
से ‘एक’ पर आना है जिसे सूफ़ी भाषा में ‘तौहीद’ कहते हैं और
बिना उसके मन निश्चल नहीं हो पाता । तौहीद में अनेकों मत-
भेद हैं जिसके कारण अहदियत, वाहिदियत, वहदत, वहदत-
वजूद, वहदत-शहूद, ज़ाती, सिफ़ाती आदि सैकड़ों शाखायें सोच-
विचार करने तथा छान-बीन करने से उत्पन्न हो गई हैं । जैसी

जिसकी पहुँच है वैसी ही उसकी समझ है। वैर-विरोध की क्या आवश्यकता है।

अब पन्थ और सम्प्रदाय वालों के विभिन्न नियमों तथा विचारों को आपने भलीभाँति समझ लिया होगा। बहुतों ने नियमों का ध्यान रखते हुए एकेश्वरवाद को विभिन्न रूप दे दिये हैं, किसी ने कोई, किसी ने कोई। अपने-अपने पन्थ के नियमों के अनुसार आध्यात्मिक संघर्ष के लिये अभ्यास तथा स्वाध्याय की दिशा में कुछ कर्तव्य निश्चित कर दिये हैं। किसी ने केवल कर्म को, किसी ने उपासना को और किसी ने कर्म, उपासना तथा स्वाध्याय तीनों को एक साथ सन्तुलित रूप में व्यवहारिक रूप देने का प्रबन्ध किया है।

श्री शंकराचार्य से लेकर श्री रामानन्दजी तक नियमों में जो मतभेद रहा उसका व्यौरा ऊपर दे दिया गया है। अन्त में कबीर साहब ने सारे सम्प्रदायों के दोषों तथा सिद्धान्तों की छानबीन करके यह निष्कर्ष निकाला कि द्वैत, अद्वैत आदि के झगड़े केवल प्रारम्भिक दशा में होते हैं, इनमें से होकर निकलना अनिवार्य है। किन्तु मनुष्य का ध्येय तथा अन्तिम इष्ट-पद वह होना चाहिये जो त्रिगुण से न्यारा हो। वह एक भी है, दो भी और तीन भी। न वह एक है, न दो और न तीन। वह सब कुछ है और कुछ भी नहीं। उनका कथन है कि परमेश्वर का अद्वैत-भाव अथवा निर्गुणभाव या उस एक का सभी में भाव मध्य की स्थिति है। शेष अन्य आचार्यों ने उसको अन्तिम पद ठहराया है। किन्तु कबीर साहब ने उस एक परमेश्वर का सब चराचर में दर्शन होना उच्चतम पद ठहराया है। इसे सूफियों में "तौहीद-शहूदी" कहते हैं।

सगुण का ध्यान करके उसी में लय हो जाने से तात्पर्य यह निकलता है कि इच्छित-ध्येय सगुण ही है। कबीर साहब कहते

हैं कि इससे भी आगे चलना चाहिये। अतः जहाँ अन्य लोग समाप्त करते हैं वहाँ से यह आरम्भ करते हैं। सन्तमत तथा सूफ़ीमत में यहाँ समानता है। सूफ़ियों में एक महान सन्त हुए हैं जिनका नाम है हज़रत मुजद्दिद साहब अलिफ़सानी (ईश्वर उन पर अपनी कृपा करे)। उन्होंने इस तौहीद के विषय की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है तथा अभ्यास और स्वाध्याय को इतनी सुन्दरता से सरल बना दिया है कि प्रत्येक के लिये यह मार्ग सुगम हो गया है। उन्होंने अभ्यास के कुछ ऐसे नवीन आविष्कार किये हैं कि वह एक प्रकार से पेटेन्ट-से हो गये हैं।

सिद्धान्तों में मतभेद प्रतीत होता है किन्तु एक ही सिद्धान्त को सिद्ध करने के विभिन्न उपाय व्यवहार में आ गये हैं। वास्तविक आशय तो मन की चंचलता तथा व्याकुलता दूर करना तथा शान्ति की स्थिति प्राप्त करना है। यह केवल मन तथा बुद्धि का हेर-फेर है, और कुछ नहीं। यदि मनुष्य के मन तथा चित्त की गड़त हो जाय। वह व्यवस्थित व अनुशासित (Disciplined) हो जाय तो सब काम बने बनाये हैं। वास्तव में आत्मा शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों में से कुछ भी नहीं है, और जब आत्मा की यह दशा है तो फिर परमात्मा के विषय में क्या कहा जाय ?

आवश्यकता प्रतीत होने पर यह बात निश्चय करनी है कि सिद्धान्तों में मतभेद तथा उनके अनुसार अभ्यास व स्वाध्याय के विषय में समस्त धर्मों का एकमत किस प्रकार हो। अतः विभिन्न मतों के प्रतिपादकों के सिद्धान्त तथा उनका संक्षिप्त इतिहास आप सुन चुके हैं। अब अपनी बुद्धि तथा पहुँच के अनुसार आप स्वयं निर्णय कर सकते हैं। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये मैं फिर इस बात का प्रयत्न करता हूँ कि प्रत्येक मत के सिद्धान्तों को पुनः दोहराऊँ जिससे उनकी तुलना की

जा सके किन्तु मेरा यह निवेदन है कि यदि आप कोई निर्णय न कर सकें तो कम से कम इतना अवश्य करें कि निर्णय को अपने विचाराधीन रखें ।

एक सज्जन कहते हैं कि केवल कर्म करना चाहिये जिसमें ज्ञान को न पहले और न पीछे कोई प्रयोजन हो । उदाहरणतः एक बड़ई लकड़ी पर आरी या बसूला चलाना आरम्भ कर दे और पहले यह न सोचे कि इसका क्या बनेगा । यह विचार उसके मन में न तो आरी चलाते समय आवे और न अन्त में ।

एक अन्य सज्जन कहते हैं कि किसी वस्तु के बनाये जाने का विचार पहले से कर लेना चाहिये और जब उसमें व्यस्त हो जाय तो फिर कोई विचार नहीं आना चाहिये ।

एक और सज्जन कहते हैं कि कर्म इस तरह करना चाहिये कि पहले से यह विचार कर लेना चाहिये कि क्या बनेगा और बसूला या आरी चलाते समय प्रतिक्षण इस बात का विचार मन में रखना चाहिये कि क्या बनाया जा रहा है और उसका अन्त क्या होगा ।

किसी अन्य सज्जन का यह विचार है कि कर्म करते समय किसी प्रकार की आशा तथा कर्मफल का ध्यान नहीं बाँधना चाहिये । यह विधि अकेली उपयोगी सिद्ध न हुई बल्कि ज्ञान, भक्ति तथा तल्लीनता की आश्रित रही ।

अब केवल ज्ञान तथा कर्मकाण्ड की ओर आइये । एक पक्ष यह कहता है कि कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल मनन करना चाहिये, सोचते रहना चाहिये । उपासना की भी आवश्यकता नहीं है ।

दूसरा पक्ष यह कहता है कि मनन प्रधान है । सोचना भी चाहिये और कर्म को भी थोड़ा-थोड़ा सम्मिलित रखना चाहिये, किन्तु उपासना की कोई आवश्यकता नहीं है ।

तीसरा पक्ष कहता है कि प्रधान मनन तथा सोच विचार हैं किन्तु, सोच विचार के साथ-साथ मन की एकाग्रता परमावश्यक है। अतः उपासना का भी एक भाग सम्मिलित रखना चाहिये, किन्तु कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उससे मनुष्य पथभ्रान्त हो जाता है।

यह पक्ष तो रहा अभ्यास तथा स्वाध्याय का। अब सिद्धान्त की सत्यता पर दृष्टि डालिये :—

एक व्यक्ति कहता है कि जंगल दिखाई देता है किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों की अनन्त संख्या भी दृष्टिगोचर होती है। इन सबका सम्मिलित रूप जंगल है। यदि जंगल को सामूहिक रूप में देखें तो जंगल है, अन्यथा सब वृक्ष पृथक-पृथक हैं।

एक व्यक्ति यह मानता है कि एक दीवार हजारों ईंटों से मिलाकर चूने से बनाई गई है, वह एक है और एक ही दृष्टिगोचर होती है। किन्तु ईंटों की ओर अलग दृष्टि जमाने तथा चूने और पानी के विचार को साथ-साथ लाने से दूसरी स्थिति पैदा हो जाती है, अर्थात् सब ईंटें पृथक-पृथक हैं, ऐसा विचार बन जाता है।

एक अन्य व्यक्ति का विचार है कि स्वर्ण एक धातु है, उसके नाना प्रकार के आभूषण बनाये गये और इस प्रकार उसकी भिन्न-भिन्न आकृतियाँ हो गईं किन्तु वास्तविकता, यथार्थ और सत्य यह है कि वह सोना ही है।

एक और व्यक्ति यह सिद्ध करता है कि समुद्र एक रूप तथा एक दृष्टिगोचर होता है। वह बूंदों का समूह है किन्तु बूंदें दिखाई नहीं देतीं, केवल एक समुद्र दिखाई देता है और बूंदों का ख्याल करना पड़ता है। किन्तु बूंदों का ख्याल बूंदों के अस्तित्व से है। यदि उनका अस्तित्व न होता तो उनका ख्याल भी न आता।

अब नल्लीनता की अवस्था की ओर ध्यान दीजिये। एक

मनुष्य ने नशा पिया और ऐसी मस्ती आई कि अपने अस्तित्व का ख्याल मौजूद है, नशे वाली वस्तु का भी और उसके साथ अपने नशे में चूर होने का भी। दूसरे मनुष्य ने जिसने नशा पिया उसे ऐसी मस्ती छाई कि अपने अस्तित्व का तो ख्याल है किन्तु नशीली वस्तु तथा नशे में चूर होने का ख्याल नहीं है। तीसरे मनुष्य को मस्ती छा जाने के पश्चात् न अपना ध्यान है, न नशीली वस्तु का और न नशे में चूर होने का। यह ज्ञान-काण्ड वालों की स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ। अब अभ्यास, उपासना, भक्ति तथा प्रेम के विषय में सुनिये।

जागृत अवस्था में भूत, भविष्य तथा वर्तमान, तीनों का वाह्य-ज्ञान रहता है। अर्ध-निद्रा की अवस्था में अन्दर का ज्ञान रहता है और गहरी निद्रा में किसी का भी ज्ञान नहीं रहता।

उपासना की एक अवस्था में भक्ति, भक्त और भगवन्त तीनों का ध्यान रहता है। दूसरी अवस्था में भक्ति का ख्याल नहीं है किन्तु भक्त और भगवन्त का ख्याल मौजूद है। तीसरी अवस्था में या तो भगवन्त का ख्याल नहीं या भक्त का ख्याल नहीं। चौथी अवस्था में भक्ति, भक्त और भगवन्त, सब गायब। पाँचवीं अवस्था में भक्ति, भक्त और भगवन्त तो सब गायब किन्तु उसके साथ ही साथ एक ही समय में सब मौजूद भी हैं। न उसका गायब होने से कुछ प्रयोजन और न मौजूद होने से कुछ प्रसन्नता। मौजूद भी, गायब भी, न यह, न वह और सब कुछ।

सारांश यह कि एक सज्जन ने केवल अभ्यास स्वाध्याय तथा जाप से सम्बन्ध रखा है; दूसरे ने केवल जाप से; तीसरे ने केवल मनन से और चौथे सज्जन ने जाप, मनन तथा ध्यान अथवा आन्तरिक अभ्यास से। सूफ़ी भाषा में इन्हें ज़िक्र, फ़िक्र और राव्ता कहते हैं। पाँचवें सज्जन ने इन सबसे सम्बन्ध रखते हुए भी कोई सम्बन्ध नहीं रखा।

किसी मत ने अभ्यास में केवल यज्ञ तथा बलि आदि पंच-वैश्य कर्म, बाह्य पूजा-पाठ, आसन, प्राणायाम, स्वाध्याय, तीर्थाटन नुमाज आदि को मुख्यता दी और ईश्वर के सगुण नामों के मौखिक जाप से काम रखा और ध्यान को मन्दिरों की मूर्तियों के दर्शन तक सीमित रखा।

किसी अन्य मत वालों ने अभ्यास को थोड़ा और अधिक विस्तार दिया। उन्होंने उसमें धारणा और ध्यान को भी सम्मिलित कर लिया। जाप में उन्होंने अजपा जाप तथा आन्तरिक जाप को भी स्थान दिया, परन्तु गुणों के साथ। गुणों के अनुसार देवताओं का रूप अनुमान से निर्धारित कर लिया और उनके सगुण नाम तथा मूर्तियों के ध्यान को आन्तरिक अभ्यास में सम्मिलित कर लिया।

किसी तीसरे मत वालों ने अभ्यास तथा व्यवहार को दूसरों की अपेक्षा और अधिक विस्तृत कर दिया। वे बजाय धारणा और ध्यान के समाधि के स्थान पर आ गये। किसी की पहुँच बीज-समाधि तक हुई और किसी किसी की निर्बीज समाधि तक। किसी ने सगुण की ओर ध्यान दिया, किसी ने निर्गुण की ओर। मानसिक जाप में सगुण नामों को छोड़ दिया गया, केवल निर्गुण के नामों तक अपना दृष्टिकोण सीमित रखा। आन्तरिक अभ्यास में पूर्ण-गुरु (जिसे सूफ़ी मुशिदे-कामिल कहते हैं) के सत्संग को मुख्यता दी।

अब आप यदि ध्यानपूर्वक देखें तो यह पायेंगे कि मतभेद का कारण रास्ते की बातें और मनुष्य के परम लक्ष्य तक पहुँचने के साधन हैं। साधन स्वयं परमलक्ष्य नहीं हैं। जहाँ तक जो रास्ता चल चुका और जहाँ तक की जिसने खोज कर ली उसी स्थान को उसने अन्तिम घोषित कर दिया। यह है भी स्वाभाविक बात। और फिर किसी अन्य ने और अधिक खोज की और उससे

भी अधिक गहराई में गया तो उसने उस स्थान को अन्तिम ठहराया। इस प्रकार यह क्रम चला आया है और चलता जायगा, न मालूम इसका अन्त कहाँ होगा। निष्कर्ष यह है कि अब जो वर्तमान तरीका है और जो अन्त में निश्चित हुआ है और प्राकृतिक है, उसकी खोजबीन करनी चाहिये जिससे हमारा काम बने। किन्तु प्रत्येक मत वाला यह दावा करता है कि मेरा तरीका सबसे सरल है और शीघ्र प्रभाव डालने वाला है। किन्तु निष्पक्ष होकर इसका निर्णय उसी समय किया जा सकता है कि हर तरीके की जाँच पड़ताल की जाय, उसका अभ्यास किया जाय और पक्षपात से रहित हो।

यह तो सब को मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य में सभी चीजें हैं। उसमें कर्मेन्द्रिय भी हैं, अन्तःकरण और आत्मा भी है। उसमें गुण-अवगुण भी हैं और वासनायें बीज-रूप में वर्तमान हैं। यह अवश्य है कि किसी में किसी बात की योग्यता अधिक है किसी में किसी की कम, किन्तु प्रत्येक परिस्थिति में सब चीजें मौजूद हैं। केवल एक वस्तु को ले लेने से और अन्य सभी वस्तुओं से मुँह मोड़ लेने से काम नहीं बनेगा। अतः आवश्यक है कि आप वह मार्ग अपनायें जो पूर्ण हो, जिसमें परिस्थितियों तथा समय का ध्यान बड़े सुचारु रूप से रखा गया हो। किन्तु क्या वर्तमान सभी मतों में परिस्थितियों तथा समय का पूर्णतः ध्यान रखा गया है? कुछ मतों में केवल कर्मकाण्ड को ही मुख्य रखा है तथा अन्य बातों से अपने को नितान्त अलग कर लिया है। किसी ने केवल ध्यान और मनन को ही अपनाया है। किसी ने केवल प्रेम-मार्ग को लिया है।

यह बात मानी हुई है कि जो मत केवल एक ही बात को अपनाता है उससे वास्तविक लाभ नहीं हो सकता। अतः सन्त-मत में कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड ज्ञान-काण्ड और परमेश्वर

सबको बड़ी सुन्दरता से एक साथ मिला दिया है। सूफ्रियों ने भी यही किया है। उन्होंने शरियत, तरीकत, मार्फत और हकीकत, सब को एक जगह कर दिया है। कर्मकाण्ड में समझ-बूझ और दिल के लगाव का प्रबन्ध किया गया है। उपासना और भक्ति में समझ-बूझ, नियम, आदर तथा सम्मान का ध्यान रखा है। ज्ञान में भी तल्लीनता तथा समाधि अवस्था की विभिन्न स्थितियाँ निर्धारित की गई हैं और उसमें भी कर्मकाण्ड का ध्यान रखा गया है। श्रवण, मनन और निधिध्यासन का एक-दूसरे से सम्बन्ध दिखाया गया है। कर्म, उपासना और ज्ञान की आवश्यकता दिखाई तथा उनको एक क्रम के साथ व्यवहार में लाना बताया गया है। जप, ध्यान तथा आन्तरिक अभ्यास को शोध कर संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मौखिक जाप के स्थान पर आन्तरिक जाप निर्धारित किया गया है। ध्यान में विभिन्न स्थितियाँ निर्धारित की गई हैं, सगुण से निकालकर निर्गुण की ओर अग्रसर किया गया है। आन्तरिक अभ्यास में ध्यान बाहर की वस्तुओं से हटाकर पहले अन्तर में सगुण पर लगाया गया है और फिर वहाँ से हटाकर निर्गुण परमेश्वर की ओर लगाया गया है जो यथार्थ है, असल है, इच्छित लक्ष्य है और सूफ्रियों का मैराजे-तमन्ना है, ज्ञात है, हकीकत है। सारांश यह कि सगुण से निकालकर निर्गुण की उपासना तथा प्राप्ति का प्रबन्ध किया गया है।

मनुष्य के पिण्ड शरीर में निचले छै चक्रों को छोड़ दिया गया है और ऊपर के सूक्ष्म चक्रों से चलने का साहस बँधवाया गया है क्योंकि मनुष्य की आयु कम हो जाने से साहस कम हो गया है, शक्ति का ह्रास हो गया है, और वह सांसारिक कामकाजों में फँस गया है। इन बातों का विचार करके सन्तों को दया आई और ऐसे नवीन आविष्कार किये कि समय लगे

कम, काम हो अधिक । पिछले लोग पिण्ड (सूक्रियों का मुक्काम नासूत) से प्रारम्भ करके पारब्रह्म (सूक्रियों का मुक्काम जबरूत) पर समाप्त कर देते थे । किन्तु अब यह सुधार किया गया है कि छोटे चक्र (आज्ञा चक्र) से प्रारम्भ करके समाप्त वहाँ किया जाता है जहाँ सारी इच्छाओं का अन्त हो जाता है जो अन्तिम लक्ष्य है और जो सर्वाधार है । सूक्रियों का कथन है :

अव्वले माँ आखिरे हर मुन्तहीस्त,
आखिरे माँ जेबे तमन्ना तिहीस्त ।

(भावार्थ—हमारा प्रारम्भ वहाँ से होता है जहाँ पर अन्य अभ्यासी समाप्त करते हैं । हमारा आखीर वहाँ है जहाँ तमाम तमन्नाएँ पूर्ण हो जाँय, कोई इच्छा शेष न रहे ।)

किन्तु पाठकगण ! तनिक ध्यान तो दीजिये कि जिस चक्र से चाहें आरम्भ करा दें और जो चक्र चाहें, छुड़ा दें । क्या यह कार्य सहल है ? इसके विषय में आगे बतायेंगे ।

यही तरोक़ा तमाम जगत के सन्तों का है चाहे वे हिन्दू धर्म के हों चाहे मुसलमान धर्म या ईसाई धर्म के हों ।

अभ्यासियों को कौन सी पुस्तकें पढ़नी चाहिये ?

आप भलीभाँति जान चुके हैं कि सारे उपाय मन की चलाय-मानता को दूर करने के लिये हैं। यदि कोई पुस्तक मन को एकाग्र करने में सहायक होती है तो शौक से पढ़िये। यदि एकाग्रता में सहायक होने की बजाय वह उलझन पैदा करती है तो आप स्वयं अपने कार्य में स्वतन्त्र हैं। सारा संसार समाचार-पत्रों, पुस्तकों आदि के पढ़ने में और नई-नई खबरों को मालूम करने में व्यस्त है जैसा कि आप पुस्तकालयों में और प्रत्येक पढ़े-लिखे परिवार में देखते हैं। यद्यपि किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना और हाल मालूम करना स्वाभाविक बात है किन्तु आवश्यक तथा अनावश्यक बातों का तथा समय-कुसमय का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। मनुष्य का मस्तिष्क एक अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है, उसी में स्मरण-शक्ति का भण्डार है और उस भण्डार में वही वस्तुएँ एकत्रित करनी चाहिये जो आपको अपने सच्चे प्रीतम परमेश्वर की प्राप्ति में सहायक हों। ऐसा नहीं करना चाहिये कि बे-सोचे-समझे अनाप-शनाप कूड़ा-करकट जो सामने आये भर लेना सिद्ध है। क्या यह सब वस्तुएँ उस भण्डार के सारे वायुमण्डल को दूषित और विषैला नहीं बना देंगी ? फिर, आप तो ऐसे अभ्यास में लगे हैं कि मन में तरंगों और विचार कम-से-कम उठें किन्तु कार्यवाही इसके बिलकुल विपरीत कर रहे हैं कि चौगुने विचारों का ढेर इकट्ठा हो जाय,

चाहे वह आपके मतलब के हों या न हों।

अभ्यासियों में से एक पन्थ का यह मत है कि नौसियों को आरम्भ में पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिये। दूसरे पन्थ का यह मत है कि पहले पुस्तकों का अध्ययन करके सिद्धान्त को देख लेना चाहिये, तब अभ्यास के मैदान में पदार्पण करना चाहिये। बहुधा यह देखने में आया है कि विद्वान पण्डित विद्या के अभिमान-वश अभ्यास नहीं करते हैं और यदि करने पर उतारू भी हों तो उससे पूर्व इतना तर्क-वितर्क करते हैं, इतनी मोन-मेख निकालते हैं कि उनसे ईश्वर बचाये। इसके विपरीत किसी कोरे लट्ठ-गँवार को जो अभ्यास बता दिया जाये वह उसे करना आरम्भ कर देता है और जल्दी सफलता प्राप्त कर लेता है। किन्तु यदि गुरु का सत्संग अधिक न मिला तो मामूली-सी बात में बहक भी जाता है और अपनी गलती से गलत को सही तथा सही को गलत अनुमान कर लेता है जिससे इस बात का भय रहता है कि कभी वह पथभ्रष्ट न हो जाय और कहीं का न रहे। यदि अभ्यासी ने पुस्तकों का भली प्रकार अध्ययन कर लिया है तो समझने के पश्चात् अभ्यास के मैदान में उतर आये, अर्थात् अभ्यास करने लगे, ईश्वर की कृपा उसके साथ हो तो भविष्य में उसके बहकने और पतन होने का भय नहीं रहता। अनपढ़ और मूढ़ यदि अभ्यास में पूर्ण भी हो तो खतरे से खाली नहीं है।

सन्तमत, विशेषकर रामाश्रम सत्संग के महापुरुषों का यह सिद्धान्त रहा है कि आरम्भ में इतना अभ्यास कराते थे कि अभ्यासी को सर्वाधार परमपिता परमेश्वर के सामीप्य तक पहुँचा देते थे और साक्षात्कार करा देते थे। उसके पश्चात् पन्थ की मौखिक शिक्षा देते थे और फिर कोई पुस्तक अपने सामने पढ़वाते थे। अभ्यास से पूर्व किसी पुस्तक के अध्ययन को इस-

लिये मना कर देते थे कि यदि अभ्यासी को अभ्यास करते समय कोई दृश्य दिखाई दे अथवा कोई अनुभव हो तो वह उसे बताये। पुस्तक के बिना देखे वह जो अपना अनुभव बतायेगा उसमें भ्रम के लिये स्थान नहीं रहेगा। सम्भव है कि अभ्यास के समय उसने जो दशा अनुभव की है वह उसकी स्मरण-शक्ति से निकलकर आई हो और पुस्तकों के अध्ययन का परिणाम हो। अतः जब तक अभ्यास परिपक्व न हो जाय उस समय तक पुस्तकों का अध्ययन अधिक लाभदायक नहीं है। वे ज्ञान में वृद्धि नहीं करतीं बल्कि स्मरण-शक्ति को तीव्र और बरबाद कर देती हैं जिसके कारण मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह मेरा निजी अनुभव भी है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'सूरदास की काली काँवरि चढ़त न दूजो रंग'। जब देखे कि मेरे विश्वास की नींव टूट हो गई है और अब कोई डर नहीं रहा तो पुस्तकों का अध्ययन करे, अपने निजी अनुभवों का उनसे मिलान करे और अपने आध्यात्मिक पूर्वजों की जीवनी से तुलना करे। इस तरह अपनी शंकाओं को दूर करने के लिये पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिये किन्तु वही पुस्तकें जो टकसाली हैं। ऐसी पुस्तकों को नहीं पढ़ना चाहिये जिनसे नास्तिक और पथभ्रष्ट हो जाने का भय हो। पुस्तकों का आवश्यकता से अधिक अध्ययन भी हानिकर है। मेरे एक मित्र ने शास्त्रों का इतना अधिक अध्ययन किया कि मानो उसकी सीमा पार कर गये। उसका फल यह हुआ कि अभ्यास में उन्हें जो आनन्द आता था, प्रेम में गद्गद हो जाते थे, मन को शान्ति मिलती थी वह शुष्क-सी हो गई, उसमें रूखापन आ गया। इस बात का बड़ा दुख है। सारांश यह है कि ऐसी पुस्तकों का अध्ययन करना हानिकर नहीं है जिनसे आपके मार्ग में बाधा उत्पन्न हो बल्कि सहायक हों।

लाभदायक पुस्तकों का इतना बड़ा भण्डार इस देश में

मौजूद है कि अब नवीन पुस्तकों के लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और न आजकल के मनुष्यों का इतना बढ़िया और पूर्ण मस्तिष्क है जो उनसे अधिक लिख सकें। केवल उनकी नकल कर सकते हैं या काटछाँट करके अपनी भाषा में लिख सकते हैं। आलोचना और काटछाँट प्रत्येक लेखक कर सकता है किन्तु किसी पुस्तक का संशोधन हजारों में से कोई एक कर सकता है और वह भी केवल दो-चार पृष्ठ, क्योंकि असली संशोधन वह है कि जो नई बात हो वही लिखी जाय। नई बात वह है जो ऊपर से उतरे जिसे सूफ़ियों में 'इलहाम' कहते हैं। इलहाम हर समय और हर व्यक्ति को नहीं होता।

पहले की पुस्तकों में जो भाषा लिखी है और जो संकेत किये गये हैं वह आजकल प्रत्येक मनुष्य नहीं समझ सकता। जिस भाषा और साहित्य में वह लिखी गई हैं, उनमें जो क्रम रखा गया है, जो संकेत और उदाहरण उनमें प्रयोग किये गये हैं उनके जानने और व्याख्या करने वाले अब नहीं रह गये। अतः वे पुस्तकें अब बेकार हैं। बहुत से अनुवाद किये गये हैं किन्तु उन अनुवादों की मिट्टी पलीत की गई है कि असल चाहे समझ में भी आ जाये किन्तु अनुवाद को मरते दम तक न समझ पाये। उनमें जो सुधार किये गये थे उनका अनुवाद करने की योग्यता न होने के कारण अनुवादकों ने उन्हें ज्यों-का-त्यों रख दिया। संकेत को तो समझा ही क्या सकते हैं क्योंकि वह उर अन्तर की बात थी और अन्तर में प्रवेश की योग्यता न थी। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि इन पुस्तकों की व्याख्या आजकल की प्रचलित भाषा में की जाय। मान लीजिये कि कोई व्यक्ति फ़ारसी अच्छी तरह जानता है तो वह फ़ारसी भाषा में लिखी हुई ब्रह्मविद्या की पुस्तकों का अनुवाद कर दे और उनमें जो संकेत व उदाहरण दिये गये हैं, यदि उन्हें न

समझा सके तो उसका भावार्थ किसी हिन्दी जानने वाले को समझा दे, भले ही वह मिश्रण हो, और हिन्दी वाला उसको समझकर हिन्दी में सुधार कर दे। किन्तु शर्त यह है कि हिन्दी और फ़ारसी जानने वाले दोनों व्यक्ति ब्रह्मविद्या का वाह्य व आन्तरिक ज्ञान भली प्रकार रखते हों। अच्छा हो कि वे लोग अंग्रेज़ी भी जानते हों क्योंकि आजकल अंग्रेज़ी की पुस्तकों का अधिक प्रचलन है अतः जिस ढंग से अंग्रेज़ी की पुस्तकें लिखी जाती हैं, वही ढंग हिन्दी पुस्तकों के लिखने में भी ध्यान में रखना पड़ेगा। पुस्तकों के पुराने ढंग को आजकल के लोग पसन्द नहीं करते हैं। यदि आप लोग चाहें तो ऐसा सम्भव है किन्तु इसमें समय, धन तथा प्रयत्न की आवश्यकता है। इससे यह भी लाभ होगा कि सूफ़ी लोग (जो अधिकतर विदेशी होते हैं) धार्मिक संकोच के कारण अपनी असली ब्रह्मविद्या का भेद भारतियों पर प्रगट नहीं करते, सुनी-सुनाई कई बातों से यहाँ वालों पर यह दोषारोपण करते हैं कि हमारे एकेश्वरवादो होने में दोष है। यदि अपनी विशाल हृदयता से कोई सूफ़ी सन्त अपना समय यहाँ वालों को ब्रह्मविद्या की शिक्षा देने में व्यय करना चाहते हैं तो उनको साहित्य (literature) नहीं मिलता। यदि मिलता भी है तो वह अधिकतर योग के सम्बन्ध में है जो एकेश्वरवाद की दृष्टि से अपूर्ण है। सन्तों की खोज वास्तव में किसी सच्चे निष्कर्ष पर पहुँची है। उनके वचनों में उन बातों का संकेत मिलता है जो अन्य मत वालों को पता भी नहीं है। फिर उन लोगों का यह डींग मारना कि हमारा मत सबसे उत्तम है, मेरी राय में ठीक नहीं है। यही हाल हिन्दू सन्तों और साधुओं का है जो मुसलमान सूफ़ियों का। कुछ दिन हुए श्री शिवव्रतलालजी ने इस्लाम के ऊपर कुछ लेख लिखे हैं और दावा किया है कि वे इस्लाम की ब्रह्मविद्या से भलीभाँति परि-

चित हैं। मैंने ध्यानपूर्वक उन लेखों को देखा तो ऐसा ज्ञात हुआ कि मौलाना रूम साहब, मौलवी जामी साहब, शम्सतबरेज़ साहब और मोहम्मद इब्न अरबी साहब के साहित्य को देखकर अपनी जानकारी को समाप्त कर दिया है। यद्यपि इन सब साहित्यों में मुसलमानों की “वहदत वजूदी” (अहं ब्रह्मास्मि) का राग अलापा गया है और चूँकि सन्तमत की नवीनतम खोजों में जो राधास्वामी साहब रायसाहब बहादुर के मत में हुई हैं “वहदत वजूदी” के अतिरिक्त ऊँचे स्थानों का वर्णन किया गया है, इसलिये मुसलमान सूफ़ियों को उसकी तुलना में नीची श्रेणी का ठहराया जाता है। कारण यह है कि हज़रत शेख अहमद साहब मुजद्दिद अलफ़िसाना (ईश्वर उन पर अपनी कृपा करे) ने “वहदत वजूदी” को मध्य की स्थिति ठहराया और बड़ी-बड़ी महनतों के बाद जिस ऊँची स्थिति का उन्होंने अपने साहित्य में उल्लेख किया है, सर्वोच्च ठहराया गया। इस साहित्य को हाथ तक नहीं लगाया गया है और जो स्थान कि “वहदत वजूदी” और “अहं ब्रह्मास्मि” के बाद खोज किये गये उन तक पहुँच अब तक बड़ों-बड़ों को नहीं हुई। यदि उनके आध्यात्मिक अनुभवों को छोड़कर केवल उनके पत्रों का ही अध्ययन करने का प्रयत्न किया जाय तो आँखें खुल जायें। परन्तु ऐसा करे कौन ? स्वयं मुसलमान सूफ़ियों को उसकी हवा तक नहीं लगी है। वे स्थान इतने ऊँचे हैं कि उन्हें आसानी से नहीं समझ सकते। उन्होंने जो सुधार किये वह भी अत्यन्त सूक्ष्म स्थानों से सम्बन्ध रखते हैं, समझ में कैसे आयें ? अतः हमारे तरीक़े के आचार्यों को चाहिये कि यदि इस दाग़ को मिटाने का प्रयत्न न करें तो यही करें कि इस भेद को अनुवाद करके समझने-समझाने के लिये छोड़ दें। आने वाला भविष्य स्वयं निर्णय कर लेगा और नित्यप्रति की तू-तू और मैं-मैं का झगड़ा मिट जायगा। यह लोकहित की बात है।

सन्तमत क्यों धारण करना चाहिये ?

मेरा यह विचार है, और अनुभव भी, कि सन्तमत के आन्तरिक अभ्यास को अब तक लोग नहीं समझे हैं। जो लोग अपने आपको सन्तमत से परिचित समझते हैं, उन्हें टटोला गया तो ज्ञात हुआ कि अभ्यास तथा अमिश्रित और निर्मल सन्तमत के सिद्धान्त उनको मालूम नहीं हैं बल्कि मिश्रित सिद्धान्त जो विभिन्न सम्प्रदायों के हैं वह सुने सुनाये उनके मस्तिष्क में भरे हैं। प्राचीन हठयोग और कुछ मध्यकालीन तान्त्रिक योग उनके मस्तिष्क को ऐसा जकड़े हुए हैं कि पीछा नहीं छोड़ता। मौखिक वेदान्त ने भी अपना प्रभाव जमा रखा है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हुआ कि शंकराचार्य मत के संन्यासी जो वास्तव में संन्यासी नहीं हैं, अपने आपको ऐसा सिद्ध करके दिखलाते हैं कि वे योग से भली भाँति परिचित हैं यद्यपि वाम-मार्ग की निम्न श्रेणी की सिद्धियाँ ही उनको प्राप्त हुई हैं। वे उन्हीं के विषय में प्रशंसा के पुल बाँधते हैं। इसी प्रकार बहुत-से मुसलमान सूफ़ी अनुभव तथा चमत्कार के पढ़े हुए पुराने ज़माने के क्रिस्से बेपढ़े और कमज़ोर दिलों की मण्डलियों में बैठकर सुनाते रहते हैं जो केवल शेखी ही शेखी है। फ़कीरी का घर दूर है। सन्त तथा सन्तमत की व्याख्या के लिये हमको सन्त गति की निचली श्रेणियों को पार करके आना चाहिये तो सम्भवतः असली शब्द 'सन्त' के अर्थ का कुछ पता चल सके। 'सन्त' शब्द की व्याख्या गोस्वामी तुलसीदास जी ने नितान्त स्पष्ट भाषा में कई स्थानों पर बतलाई है। रामायण आदि धार्मिक पुस्तकों में पाठकों ने

उसे पढ़ा होगा ।

प्रायः सभी धर्मों का यह विश्वास है कि संसार में जब जब ऐसा अन्धकार छा जाता है कि धर्म का प्रकाश अधर्म के अन्धकार में धोमा और फीका पड़ जाता है, राजा से लेकर रङ्क तक ऐसे भ्रम तथा अज्ञान में पड़ जाते हैं कि उनको सत्य तथा वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाता, देश का वातावरण ऐसा विषैला हो जाता है कि सज्जनों के उपदेश, धार्मिक पुस्तकों का महात्म, धर्म-शास्त्रों के पालन का कोई महत्व शेष नहीं रहता; जो बातें सत्य हैं वे प्रतिकूल हो जाती हैं और बदी को नेकी तथा नेकी को बदी मान लिया जाता है; सच्चा मार्ग प्रदर्शन करने वालों की राजा खाल खिचवा लेते हैं; निर्धन प्रजा की हँसी उड़ाई जाती है; तब सर्वाधार परमपिता परमेश्वर की दया उमड़ती है और समय तथा काल के अनुरूप विशेष कला लिये हुए एक पवित्र महान आत्मा प्रकट होती है। उसमें ऐसी आत्मिक शक्ति होती है जो उस देश के समस्त निवासियों को प्रभावित कर सके। उसके एक हाथ में धर्म ग्रन्थ तथा दूसरे में तलवार होती है। ग्रन्थ से यहाँ यह आशय है कि वह मनुष्यों को अहिंसात्मक रूप से समझा बुझा कर सद्मार्ग पर लाये। प्राचीन तथा उस काल के प्रचलित सब धार्मिक नियम रद्द कर दिये जाते हैं अथवा उन्हें भली प्रकार संशोधित करके नये सिरे से लागू कर दिया जाता है। तलवार का आशय यह है कि यदि समझाने बुझाने तथा अहिंसात्मक ढंग से सुधार नहीं होता तो दण्ड की विधि प्रयोग में लाई जाती है।

कोई अवतार या नबी ऐसा नहीं हुआ कि जिसने युद्ध और मारकाट न की हो। यदि इस सिद्धान्त का खण्डन करना हो तो सम्भवतः प्रभु ईसा और भगवान गौतम बुद्ध को इस सूची से पृथक कर देंगे। किन्तु गौतम बुद्ध और ईसा मसीह के बाद जोर

की घमासान मारकाट हुई है जो उनके अनुयायियों ने और भिक्षुओं ने की। ऐसा इतिहास बतलाता है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रहे कि अवतारों के प्रगट होने का यह भेद है कि भिन्न भिन्न अवतार या नबी आध्यात्मिक शृंखला के किसी विशेष स्थान से किसी विशेष कला या कलाओं को लेकर प्रगट हुए। किसी में शक्ति और कलायें कम थीं, किसी में अधिक। उदाहरण के तौर पर देखें तो परशुराम जी का अवतार केवल ब्रह्मचर्य को प्रतिपादित करने के हेतु था। उनमें स्वभावतः पाशविक वृत्तियों तथा हठ का प्रभाव अधिक था। उन्हें ब्रह्मचर्य-आश्रम का अवतार कहा जाय तो कोई अत्योक्ति न होगी। भगवान राम गृहस्थाश्रम के अवतार थे। उनमें धर्मशास्त्र के पालन का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष था, अर्थात् उनमें प्रेम और भावनायें कुछ दबी हुई तथा ज्ञान उभरा हुआ था। उनके कर्म तथा व्यवहार मर्यादा से सीमित थे अतः उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम कहा गया है। यहाँ ज्ञान-प्रधान शक्ति का दर्शन है जिसे सूफियों में कुव्वते जमाल कहते हैं। श्रीकृष्णजी महाराज वानप्रस्थ आश्रम के अवतार थे। उनमें प्रेम तथा भावनायें कुछ उभरी हुई तथा ज्ञान उनकी तुलना में कुछ दबा हुआ था। अथवा यह कहना उचित होगा कि उनमें भावनाओं का उभार, अनुशासन तथा प्रेम सब का एक साथ अत्यन्त सम अवस्था में दर्शन होता है। सूफ़ी भाषा में यहाँ जलाल और जमाल दोनों अपने अपने मौके पर हैं और मिले जुले हुए हैं।

गौतम बुद्ध का अवतार वैराग्य, त्याग तथा ज्ञान की मिलौनी है।

हिजरत यूसुफ अलहसलाम में जमाले जाहिरी है।

हिजरत मूसा अलहसलाम में जलाल अधिक है।

हिजरत ईसा में दया और क्षमाशीलता अधिक है जिसे सूफ़ी

भाषा में सिफत-रहम और दरगुजर कहते हैं ।

हजरत मोहम्मद सल्लेह अल्लाहू सल्लम में उपरोक्त सर्व-गुणों का प्रभाव एक साथ तथा भिन्न-भिन्न अवसरों पर पृथक-पृथक दर्शित होता है । जिस काल में पैगम्बर साहब प्रगट हुए उसमें सर्वगुण सम अवस्था से हट गये थे, उनमें न्यूनाधिक्य हो गया था, अरब निवासियों का चरित्र और सदाचार बिगड़ गया था । इसी के कारण सर्वगुणों में समता लाने और चरित्र में आवश्यक सुधार करने के लिये हजरत आध्यात्मिक श्रृंखला के ऐसे स्थान से भेजे गये जिससे उनके गुणों और रहनी सहनी का जनता पर प्रभाव पड़े और वे पूर्णतया सन्मार्ग पर आ जायें ।

तात्पर्य यह कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता पड़ी वहाँ वैसे अवतार हुआ ।

भगवान राम का अवतार असली ब्रह्माण्डी मन के स्थान से हुआ जिसे 'काल' का स्थान भी कहते हैं । भरत जी ब्रह्माण्डी बुद्धि से, शत्रुघ्न चित्त के स्थान से और लक्ष्मण जी अहंकार के स्थान से आये ।

कृष्ण भगवान शुद्ध अहंकार, शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि, शुद्ध चित्त तथा परा और अपरा प्रकृति युक्त शुद्ध आत्मा के स्थान से अवतरित हुए । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वे महाकाल के पारब्रह्म स्थान से अवतरित हुए ।

प्रभु ईसा और बुद्ध भगवान 'कृपा' के स्थान से आये और हजरत मोहम्मद रसूल अरब निवासी दयालुता के स्थान से आये जो सन्तों का सत-पद है ।

जब जिस हेतु अवतार होता है वह कार्य पूरा हो जाता है और सब प्रकार के दुराचार, अधर्म तथा अन्य बुराइयों को दूर करने का कार्य समाप्त हो जाता है तो अवतार या नबी समय पूरा करके जिस स्थान और धाम से आये थे वापिस चले जाते हैं

और अपने पीछे ऐसे नियम छोड़ जाते हैं जिनका पालन भविष्य में होता रहे। पिछले नियम या तो बिलकुल रद्द कर दिये जाते हैं और नये नियम लागू करके छोड़ दिये जाते हैं, या पिछले नियमों में जो दोष आ गये हों उनको समय और परिस्थिति के अनुसार संशोधित करके दुबारा लागू कर देते हैं। उनके चले जाने के पश्चात् समय पाकर प्रकृति का परिवर्तन का नियम काम करने लगता है। जलवायु, सामाजिक रीतियों तथा मनुष्य के स्वभाव में शनैः शनैः परिवर्तन होने आरम्भ हो जाते हैं जैसे किसी स्थान को कितना ही साफ़ कर लो किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् वहाँ धूल जमा हो जाती है और दुबारा साफ़ करने की आवश्यकता पड़ती है।

और जब इस प्रकार फिर खराबी पैदा हो जाती है और संशोधन, सन्तुलन तथा काट छाँट की पुनः आवश्यकता पड़ती है तो फिर लगभग सौ वर्ष बाद, या एक सहस्र वर्ष बाद एक ऐसा सिद्ध, वली, सन्त, महात्मा पैदा होता है जो विगत अवतारों नबियों के छोड़े हुए नियमों की व्याख्या करके जनता को शान्ति पूर्वक प्रेमपूर्वक समझाता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि लोग भले बन जायें और सन्मार्ग पर आ जायें। किन्तु पुराने नियमों में अपनी ओर से कोई संशोधन नहीं करता। केवल समय और परिस्थिति के अनुसार उपासना तथा आन्तरिक अभ्यास की विधियों में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देता है। धर्म शास्त्र के मूल सिद्धान्तों में, जिन पर संसार का प्रबन्ध आधारित है, अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं करता और न उनका विरोध करता है। उसकी शिक्षा का माध्यम प्रेम और समझाना बुझाना होता है। अवतारों की भाँति उसको यह अधिकार नहीं होता कि यदि कोई उसकी शिक्षा को न माने तो उसे दण्ड दे।

सन्त और वली दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो केवल

प्रेम-मार्ग को प्रयोग में लाते हैं और भक्ति तथा ज्ञान-मार्ग से लोगों को उपदेश करते हैं। दूसरे वह जो भक्ति और ज्ञान-मार्ग के साथ-साथ धर्मशास्त्र को भी लेकर चलते हैं। पहले वाले नियमानुसार शिक्षा का प्रबन्ध नहीं करते क्योंकि प्रेम में कोई नियम नहीं होता। दूसरे वाले नियमानुसार यथाक्रम शिक्षा देते हैं। पहले वाले प्रेमभाव प्रधान होते हैं तो दूसरे वाले प्रेमिका-भाव प्रधान। पहली प्रकार के सन्त केवल परमेश्वर में लीन रहते हैं।

दूसरी प्रकार के महात्मा रूप और गुण (जिसे सूफ़ी भाषा में ज्ञात और सिफ़ात कहते हैं) दोनों पहलुओं में पूर्ण होते हैं। इसको इस प्रकार और स्पष्ट समझ लीजिये। एम० ए० पास तो प्रायः सभी विद्यार्थी करते हैं किन्तु दूसरों को पढ़ाने तथा शिक्षा देने की विशेष योग्यता सब में उतनी नहीं होती जो होनी चाहिये। यह सम्भव है कि उनमें से कुछों को पढ़ाने लिखाने का कार्य सुपुर्द कर दिया जाय जिनमें पढ़ाने की योग्यता बिल्कुल नहीं होती। ऐसे लोग समय टालते हैं और अपना वेतन वसूल करते हैं। हजारों पढ़े लिखों में से केवल थोड़े से ही ऐसी योग्यता रखते हैं जिन्हें पढ़ाने लिखाने की प्रवीणता प्राप्त होती है। अब यदि उन्हें प्रशासन सम्बन्धी कार्य सुपुर्द कर दिये जायें तो वे बौखला जायेंगे। इसी प्रकार यदि शासन विभाग (Executive Line) के किसी डिप्टी कलेक्टर को पढ़ाने लिखाने के लिये नियुक्त कर दिया जाय तो बगलें झाँकने लगेगा। घर से तैयारी करके आना पड़ेगा और 'सिखाये हुए पूत' वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी। यदि किसी सन्त और वली में दोनों योग्यतायें एक साथ वर्तमान हैं तो वह जगमगाता हुआ आलोक है और पूर्ण ही नहीं सम्पूर्ण है। ऐसे महात्मा को सूफ़ी भाषा में कामिल मुकम्मिल बल्कि अकमल कहते हैं। ऐसे महात्मा और वली प्रायः

वह लोग होते हैं जो उस अवतार या नबी के अनुगामी होते हैं जो कर्म, उपासना, ज्ञान और आत्मज्ञान को लेकर सबको मिला जुलाकर शिक्षा देते हैं। यह सन्त लोग परमेश्वर में निरन्तर रत होते हुए भी लोक हित और शिक्षा में निमग्न हो जाते हैं और पहले वाले परमात्मा में पूर्ण रूप से लय हो जाते हैं। लोकशिक्षा से उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं होता।

वास्तव में वह वली और सन्त जो परमेश्वर में लय होकर लोक कल्याण और शिक्षा में लग जाते हैं और प्रतिनिधि अथवा प्रतिरूप होते हैं उन्हीं की शिक्षा पूर्ण है। सूफ़ी लोग इन्हें 'क्रायम-मुक्काम' कहते हैं। यह धर्म-शास्त्र को प्रमुख रखते हैं।

ऐसे सन्त महात्माओं को सूफ़ियों ने दो श्रेणियों में रखा है। एक 'कसबी' और दूसरे 'वहबी'।

'कसबी' वह होते हैं जो अधिकारी, सत्संगी, साधु, हंस, परमहंस, सन्त और परमसन्त की अवस्था तक अपने अभ्यास के सहारे पहुँचते हैं। कोई तो किसी वाह्य स्थान तक चढ़ाई करके अटक जाते हैं और कोई सगुण रूप के किसी सूक्ष्म स्थान तक पहुँच कर ठहर जाते हैं। कोई-कोई इन तीनों सगुण अवस्थाओं को पार करके उस परमपिता परमेश्वर के चरणों में पहुँच जाते हैं। आशय यह है कि इनकी आत्मिक उन्नति का आधार मुख्यतयः इनका अपना ही अभ्यास होता है।

'वहबी' वह लोग हैं जो तैयार थे, मामूली अभ्यास किया, ऊपर से प्रभु की कृपा हुई और एकदम या धीरे-धीरे किसी ने हाथ पकड़कर ऊपर को खींच लिया। ऐसे लोग जब आध्यात्म विद्या आरम्भ करते हैं तो उनको 'मुराद' (ईश्वर का प्यारा, मक्कबूल beloved) कहते हैं। शेष को 'मुरीद'।

'मुराद' वह हैं जो तैयार आये हैं और जिनको अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है। केवल सन्त के सत्संग से उनका काम

बन जाता है। इनकी उन्नति का आधार केवल प्रभु कृपा होती है।

‘मुरीद’ वह हैं जिनके संस्कार तो अच्छे हैं किन्तु आध्यात्म विद्या को ग्रहण और शोषण करने की शक्ति बहुत क्षीण है। यह वर्षों रगड़ते हैं, डूबते, उछलते और पथ भ्रष्ट होते हैं। जब सीधे रास्ते पर आ जाते हैं तो किसी सगुण स्थान पर अटक जाते हैं या उससे निकलकर सर्वाधार परमेश्वर तक पहुँचने के अधिकारी बन जाते हैं। इनके भी कई वर्ग और श्रेणियाँ हैं जो इस प्रकार हैं।

(१) पहला वर्ग ‘सत्संगी’ का है। सत्संगी से आशय है कि अधिकारी हो और ‘सत’ का संग करे। ‘सत’ कहते हैं सच्चाई, वास्तविकता और हकीकत को और ‘संग’ नाम है प्रेम, मोहब्बत मिलाप और साथ रहने का। जो सच्चाई का जानने वाला हो, सत्यप्रिय हो और सत्यदर्शी हो वही ‘सत्संगी’ कहलाने का अधिकारी है। सत्संगी का दूसरा नाम ‘अधिकारी’ है, जिसको जिज्ञासा है, जो पात्र है, जो योग्यता रखता है और वास्तव में जो सन्त के विशेष संग में रह कर उसकी कृपा की धार का लाभ उठाता है। सत्संगी और अधिकारी में केवल इतना अन्तर हो सकता है कि अधिकार, जिज्ञासा और पात्रता के बिना सत्संग नहीं करेगा। जो सत्संग करने लग जाय उसको सत्संगी कहते हैं। यह लोग गुरु वाणी को सुनते हैं। यह सगुण उपासना है। जब गुरु-वाणी पर ध्यान देते हैं और उसके अर्थ पर आ जाते हैं यह उनकी निर्गुण उपासना है। शब्दों का श्रवण कल्पना का बाह्य रूप है और उन शब्दों का अर्थ कल्पना का आन्तरिक रूप है जो निर्गुण है। इस प्रकार यह लोग सत्संग में बैठ कर निर्गुण और सगुण दोनों उपासनायें एक साथ करते हैं। किन्तु उन्होंने अभी गुरु धारण नहीं किया है।

“अधिकारी”—‘अधि’ का अर्थ है अधिक और ‘कारी’ का

अर्थ है करना। इसका मतलब यह है कि 'कर्म' मनुष्य की रुचि, मन की इच्छाओं और आन्तरिक भावनाओं के व्यवहारिक रूप को कहते हैं। श्रवण और मनन उसका गुण है। जब मनुष्य की रुचि ईश्वर की ओर होती है, उसके मन की इच्छायें तथा आन्तरिक भावनायें उसे ईश्वर की ओर प्रेरित करती हैं और उसी के अनुरूप वह कर्म करने लगता है तब वह 'अधिकारी' की श्रेणी में आता है।

“साधु”—जब अच्छी तरह ध्यान देकर वास्तविकता और सचाई को भली भाँति समझ ले, तब साधन करना सीखे जिससे उसके उर अन्तर में सत् का भाव उत्पन्न होने लगे। साधु उसको कहते हैं जो आध्यात्म विद्या की शिक्षा प्राप्त करे तथा अभ्यास करे। जो साधना न करे उसको साधु नहीं कह सकते। जैसी कि उसको 'सत' की धुन है वैसा ही उस 'सत' को ग्रहण करने का प्रयत्न करता रहता है। जो वस्तु उसके साधन में विघ्न डालती है उसको छोड़ने में कभी देर नहीं करता। वास्तव में गुरु का महात्म्य इसी के लिये है। यह गुरु-मत होकर गुरु के बताये हुए नियमों के पालन को प्रधान रखते हुए अपनी सफलता की चिन्ता में रहता है। साधु की स्थिति 'निधिध्यासन' की है। 'नि' का अर्थ है 'अन्तर या भीतर' और 'ध्या' कहते हैं ध्याना या अपनाना। 'आसन' कहते हैं बैठने को। जो किसी विचार को लेकर अन्तर में ध्यावे और उसी विचार पर जम कर बैठे उसको 'निधिध्यासन' कहते हैं। यह एक प्रकार का अभ्यास है जिसके लिये तरह-तरह की युक्तियों तथा शिक्षा का क्रम रखा गया है। सन्तों में इस क्रम को भजन, सुमिरण और ध्यान लहते हैं। सूफ़ी लोग इसी को ज़िक्र, फ़िक्र और राबता कहते हैं।

सत्संगी का धर्म—यम और नियम है। असत्य भाव और असत्य विचारों को छोड़ना 'यम' कहलाता है। 'यम' निष्कासन

करने को कहते हैं। सत्भाव और सत्विचार अपनाने को 'नियम' कहते हैं। 'यम' मिथ्या है और 'नियम' 'सत्य' है। अपने उर अन्तर के पात्र को मिथ्या विचारों से रहित करके स्वच्छ करना 'यम' और उसमें सत्य विचार भरना 'नियम' के अन्तर्गत आता है।

साधु के धर्म—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा, ये चार साधन हैं जिन्हें वेदान्ती 'साधन-चतुष्टय' कहते हैं।

(अ) आसन—ऐसी विशेष मुद्रा में बैठना कि चित्त की वृत्तियों के चंचल होने का डर न रहे। जिस प्रकार बैठने में यह उद्देश्य पूरा हो वही 'आसन' कहलाता है।

(ब) प्राणायाम—प्राण की वृत्ति को अपने अन्तर में इस प्रकार स्थिर कर लेना है कि वह चित्त को निश्चल रख सके। श्वास को रोकने से यहाँ आशय नहीं है। चित्त की वृत्तियाँ तब तक शान्त नहीं होंगी जब तक उसको एक विशेष केन्द्र पर ठहरा कर किसी आन्तरिक वस्तु पर टिकने का सहारा न दिया जाय। जब चित्त की वृत्तियाँ न रुकें, अथवा रुकने से भागने लगें तो उसको बारम्बार उस वस्तु पर जमाया जाय और ध्यान की सहायता लेकर उस पर स्थिर किया जाय।

(स) प्रत्याहार—वृत्ति के बारम्बार रुकने के अभ्यास को प्रत्याहार कहते हैं। यह संस्कृत शब्द 'प्रति' अर्थात् पहले और 'हरी' अर्थात् ग्रहण करने से निकला है।

(द) धारणा—धारण करना, पकड़ रखना अथवा जमा देने को धारणा कहते हैं। यह 'धरि' शब्द अर्थात् 'पकड़ने' से निकला है।

ये सब मिल कर निदिध्यासन कहलाते हैं। इन्हें चौसाधन भी कहते हैं।

हंस—एक गति हंस की होती है जिसका अर्थ है सत्य का ग्रहण करने वाला। सत्संगी सत् का संग करने वाला और साधु

सत् का साधन करने वाला होता है। 'हंस' शब्द 'हन' अर्थात् मारने से निकला है। जिसने बुरी वासनाओं को मार गिराया है और सत् जिसमें आत्मा बन कर रहता है वह हंस है। सत् को भली प्रकार धारण करके उसमें चित्त की वृत्ति को लगाये रखना 'ध्यान' है। 'समाधि' ध्यान की गहरी अवस्था है। 'सम' अर्थात् मिला जुला और 'धा' अर्थात् धारण करना। तात्पर्य यह कि सत् में भली प्रकार रत होकर उसको पकड़ रखने की अवस्था को समाधि कहते हैं। इस दृष्टि से हंस की दो अवस्थायें हैं। असत्य का त्याग और सत्य का भली भाँति ग्रहण करना 'हंस' और उसका दूसरा रूप बन जाना 'परमहंस' कहलाता है। कहावत भी है कि हंस दूध दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। दूध सत् है और पानी असत्।

जब तक सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने से सम्बन्ध है तब तक हंस की स्थिति को 'संकल्प' कहते हैं। 'सं' का अर्थ है 'साथ' और 'कल्प' का अर्थ है पहिचान करना। यह दूध और पानी की मिली-जुली अवस्था में से पानी को छोड़ देना और दूध को ग्रहण करना है। जब यह स्थिति और अधिक गहरी हो जाती है तो फिर पहिचान करने की आवश्यकता शेष नहीं रहती। यह हंसी की निर्विकल्प अवस्था है।

सूफ़ियों के अनुसार इन सब अवस्थाओं के अभ्यासी कस्बी और वहबी दोनों प्रकार के होते हैं। कस्बी और वहबी की व्याख्या ऊपर आ चुकी है।

अब आपने सन्तों और उनके मतों की थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त कर ली। वास्तव में जो साधु और सन्त गुणों के झमेले से आगे जाने का प्रयत्न करे और कराये वही सन्त है और जिन उद्देश्यों को लेकर ऐसा किया जाय वही सन्तमत है। ऐसा व्यक्ति सब मतों की वास्तविकता को जानकर दया की दृष्टि से सब को

अपनाता है और किसी से विरोध इस कारण नहीं करता कि सब मत उसके अन्दर हैं और वह सब मतों से ऊँचा है। जो जिज्ञासु उसके सम्पर्क में आते हैं बिना किसी भेदभाव के निस्वार्थ होकर उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ऊँचा करता और कराना चाहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सन्तमत को अपनाने का कारण केवल आन्तरिक अभ्यास है या उसके बाह्य सिद्धान्तों का पालन भी। आन्तरिक अभ्यास की शिक्षा और विवेचना तो अधिकतर एक हृदयसे दूसरे हृदय को पहुंचती है जिसे सूफ़ी लोग 'सीना-ब-सीना' कहते हैं। इसका सम्बन्ध अभ्यास से है जिसको लगभग सभी सत्संगी जानते हैं। बाह्य सिद्धान्त भी उसी के अनुरूप हैं। भीतर और बाहर एक ही सिद्धान्त काम करता है। क्या आप अन्तर में सत् की खोज करेंगे और बाहर असत् की? क्या आप दुविधाभाव से काम लेंगे जो पाखण्ड और महापाप है? भीतर और, बाहर और। मन में राम बगल में ईंटें। ऊपर जिन अवस्थाओं की व्याख्या की गई है उनमें विस्तारपूर्वक केवल सत् और असत् के भाव की वास्तविकता दिखलाई गई है। यदि गुरुमत होकर उनका अभ्यास किया जाय तो सफलता सम्भव है, अन्यथा नहीं। मनमत होना सन्तमत के विपरीत है। गुरुमत होना उसको कहते हैं कि जो गुरु कहे उसको मन, वचन और कर्म से पालन करे। किन्तु देखने में आता है कि मनमत लोगों का इतना वेग है कि वे यह चाहते हैं और इस बात का प्रयत्न करते रहते हैं कि जो कुछ वे चाहें उसके अनुसार गुरु आज्ञा दे और उनके कर्मों तथा व्यवहारों पर कोई भी आक्षेप न करे और सिर औंधाये जहाँ तक हो सके उनके असन्तुलन को सहन करता रहे। इस दृष्टि से तो अब उलटधार मामला हो गया है कि गुरु चेला है और चेला गुरु।

जो व्यक्ति मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और आन्तरिक वृत्तियों को गुरु की आज्ञा के अनुसार आन्तरिक अभ्यास और लोक-व्यवहार में लगाये उसे गुरुमत कहते हैं। किन्तु मुख्य प्रश्न मनमत और गुरुमत होने का है। बहुधा सत्संग में ऐसे व्यक्तियों की संख्या देखने में आती है जिन्होंने गुरु धारण नहीं किया है। साधु भी हैं जो अभ्यास तो करते हैं किन्तु मनमत के साथ। जिस काम के लिये उनका दिल गवाही देता है वह करते हैं और जिसके लिये उनका दिल गवाही नहीं देता वह नहीं करते। इस तरह पर नियम के अनुसार तो उन्होंने गुरु धारण कर लिया किन्तु केवल कहने भर के लिये। मनमत नहीं छोड़ा। यह पहला दर्जा गुरु धारण करने का है जिसे अंग्रेजी में First Initiation कहते हैं। इसमें केवल गुरु से अभ्यास की विधि सीखी जाती है और सत्संग भी। जब 'हंस' में यह योग्यता और विशेषता आ जाती है तो उसे 'परमहंस' कहने लगते हैं। जीवन की यह बड़ी आनन्दमय स्थिति है। इसको कोई-कोई अवधूत या कलन्दर भी कहते हैं। यह सत् या हकीकत की स्थिति है। सत्संगी, साधु और हंस, यह तीनों अब तक माया, गुणों तथा काल के चक्र में हैं। इन सब के परे एक चौथी स्थिति है जिसे 'सन्त' कहते हैं।

'सन्त' सत् के रूप को कहते हैं। सन्त निजस्वरूप हैं, असल हैं और सूफ़ियों की 'जात' हैं, 'हकीकत' हैं। उनके सिवाय सब नक़ल है। सब का आरम्भ सत् से होता है किन्तु विभिन्न दशाओं में अन्तर होता है और उस अन्तर की भी भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ होती हैं। इन्हीं श्रेणियों को कृत्रिम कहते हैं। यथार्थ और यथार्थता दो वस्तु हैं। सत् में यथार्थता है और कृत्रिम में गुण-अवगुण हैं। जो वास्तव में है और सदा रहता है वह तो सत् है। जो वास्तव में है नहीं किन्तु यथार्थ की नक़ल बन कर दिखा रहा है वह कृत्रिम है। जो स्वयं में स्थित हो वह सन्त और सत् है

और जो स्वयं में स्थित न हो वह असंत और असत् है। इसलिये 'सत्संगी' सत् या सन्त की संगत करने वाले को कहते हैं। 'साधु' सत् या सन्त की स्थिति पर पहुँचने के साधन करने वाले को कहते हैं। 'हंस' सत् या सन्त की स्थिति पर पहुँचने के अभ्यास में रत और लवलीन रहने वाले को कहते हैं। 'सन्त' सत् का रूप है जिन्हें सूफ़ी 'जाते-हक़ीकत' कहते हैं।

'परमसन्त'—'सन्त' की क्या पहिचान और लक्षण हैं, इस आशय से 'परमसन्त' शब्द को प्रयोग में लाया गया है। सत्संगी में सत् के निश्चय के साथ साथ कथनी और कुछ करनी रहती है, अर्थात् कुछ भाग कथनी का और कुछ करनी का। सूफ़ी भाषा में इन शब्दों को क्रमशः 'खाल' और 'हाल' कहा गया है। 'हंस' में 'करनी' और 'रहनी' रहती है किन्तु करनी कम और रहनी उससे कुछ अधिक मात्रा में रहती है। 'साधु' में सत् के निश्चय के साथ करनी रहती है, कथनी नहीं रहती।

सन्त में कथनी, करनी और रहनी एक विशेष अनुपात में मिली-जुली एक साथ लड़ी में गुँथी रहती है। वह रहनी का रूप बन जाता है। सूफ़ी उसे बक्रा-उल-बक्रा कहते हैं।

सन्तों का यह तरीका रहा है कि जिज्ञासु में आध्यात्म विद्या का प्रतिष्ठान कई प्रकार से करते हैं। कोई तो छूकर अपना असर प्रवेश करते हैं जैसे छू जाने पर बिजली प्रवाहित होने लगती है। कोई इच्छा-शक्ति से, कोई प्रेम की धार से और कोई दृष्टि से अपना असर जिज्ञासु में प्रवेश करते हैं।

लोगों में आध्यात्मिक विद्या प्रवेश करने व उन्नति करने की विशेषता व प्रभाव रखने के अनुसार सन्त भी कई श्रेणी के होते हैं। प्रथम वह हैं जो केवल अपने से नीचे वालों को एक दर्जा ऊपर उचका दें और गतियुक्त कर दें। दूसरे वे हैं कि जिस स्थान से चाहें उस स्थान से ऊपर सरका

ले जावें। तीसरे वे हैं कि जब वे स्वयं चाहें तब तो न ले जा सकें किन्तु जब उन पर एक विशेष हालत पैदा हो उस समय अपने साहस का प्रयोग करें। चौथे वे हैं कि जब और जिस समय चाहें भले ही उनकी विशेष हालत हो या न हो, अपने साहस का प्रयोग करें। पाँचवें वे हैं कि जब निश्चय बाँधें तब प्रभाव हो और निश्चय न बाँधें तो प्रभाव न हो। छठे ऐसे हैं कि निश्चय बाँधें या न बाँधें प्रभाव जारी रहे और उसे रोकना चाहें तो रोक लें। सातवें वे हैं कि उनको रोकने या न रोकने से कोई मतलब नहीं। आठवें वे हैं कि उनके प्रभाव से केवल आन्तरिक भावनाओं को गति मिलती है किन्तु मनुष्य के स्वभाव और सदाचार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नौवें वह हैं कि जिनके प्रभाव से आन्तरिक उन्नति भी हो और चरित्र तथा सदाचार भी बने। दसवें वे हैं कि जिनके प्रभाव से आन्तरिक भावनाओं में गतिशीलता प्रतीत न हो किन्तु सदाचार में सुधार हो जाय।

मेरा यह विचार है कि यह विषय बहुत उच्च श्रेणी का है। कहने का तात्पर्य यह है कि वाह्य सिद्धान्तों का पालन मुख्य है। जो लोग ऐसा नहीं करना चाहते तो कोई चिन्ता नहीं। जब ईश्वर कृपा करे और उन्हें साहस प्रदान करे उस समय के आने की बाट जोहते रहें। किन्तु जो लोग इससे बिल्कुल सहमत नहीं उनके लिये यहाँ फ़ारसी का एक शेर मुझे याद आया :—

ईं ख़यालस्तो महालस्तो जिनू ।

हम ख़ुदा ख़वाही व हम दुनियाये दूँ ॥

(भावार्थ—ऐसा समझना कि ख़ुदा भी मिल जाय और दुनियाँ भी, महा कठिन है, पागलपन है।)

यदि केवल सत्संग और आन्तरिक अभ्यास से काम है और वाह्य सिद्धान्तों की ओर दृष्टि नहीं की है, मनमत बने रहे हैं तो उस समय तक उन्हें दूसरी कक्षा (second initiation) के

योग्य नहीं समझा जाता है। इस दूसरी कक्षा के सम्बन्ध को गुरुमुख होना कहते हैं। इसमें शिष्य से कुछ प्रतिज्ञायें कराई जाती हैं यद्यपि बहुत कम ऐसे होते हैं जो उन प्रतिज्ञाओं को पूरा करें, बल्कि अधूरा भी नहीं करते। यह उनका अपना कर्म है। माया सबके साथ लगी है। गुरु-शिष्य के इस सम्बन्ध में एक प्रकार का ऐसा आध्यात्मिक नाता जोड़ा जाता है जिसमें यह गारण्टी होती है कि यह नाता टूटना अत्यन्त कठिन है। चाहे कितने ही काल तक साधु पथ-भ्रष्ट रहे और अभ्यास न करे किन्तु आध्यात्मिकता घेर घार कर कभी न कभी उसे सन्मार्ग पर ले आयेगी। बहुत कम ऐसा देखा या सुना गया है कि यह सम्बन्ध जीवन भर के लिये टूट जाय। यदि इस सम्बन्ध को साधु स्वयं अपने हृदय से तोड़ दे तो तुरन्त टूट जाता है। किन्तु यदि वह दिल से न चाहे तो गुरु के रुष्ट रहने पर और सत्संग से निष्कासित कर देने पर भी कुछ न कुछ डोर अवश्य लगी रहती है और सम्बन्ध बिलकुल नहीं टूटता। समय आने पर जब संस्कार उभरते हैं तब वह ज्यों का त्यों फिर ठीक हो जाता है।

इसके पश्चात् जब यह देखते हैं कि साधु 'हंस' की गति में आ गया है किन्तु उसकी पुष्टि नहीं हुई है और उसमें ऐसी शक्ति आ गई है कि दूसरे में अपना प्रभाव प्रवेश कर सके तो महापुरुष यह करते हैं कि अपनी खैच शक्ति से उसकी चढ़ाई अन्तर में ऊपर की ओर एक ऐसे स्थान पर करके उसे केन्द्रित कर देते हैं जहाँ से वह अपना प्रभाव दूसरों में प्रवेश कर सके। ऐसा करने के लिये वे उसे आज्ञा भी दे देते हैं किन्तु यह अकसी तौर पर होती है। यह उसका तीसरी कक्षा में प्रवेश है जिसे अंग्रेजी में 3rd initiation कहते हैं। किन्तु इसमें सत्संग कराने की आज्ञा नहीं होती। यदि उन्हें आज्ञा न भी दी जाये तो उनमें स्वयं दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति पैदा हो जाती है और इरादे

या बिना इरादे उनका प्रभाव दूसरों पर होने लगता है। अतः विवश होकर उन्हें अपने मनोबल से पूर्णता प्राप्त कराकर शिक्षा करने की आज्ञा दे देते हैं जिससे उनकी शक्ति तथा प्रभाव घटने या खराब न होने पाये। किन्तु उनको चाहिये कि वे प्रयत्न करके अपने आपको नकली से असली बना लें। किन्तु भूल से या अज्ञानता से यह लोग अपने आपको पूर्ण समझ कर अहंकारी बन जाते हैं और ऐसा समझने लगते हैं कि जो कुछ होना था वह तो हो गया। यह नादानी है और मूर्खता है। अभी नहीं मालूम कि कौन-कौनसी मंजिलें तै करनी हैं। इन लोगों को यह आज्ञा नहीं होती कि वे पहली कक्षा (First initiation) वालों को दूसरी कक्षा (second initiation) में प्रवेश करा सकें।

सन्तमत के अनुसार रहनी सहनी तथा लोक व्यवहार

इस विषय में तीन प्रश्न स्वतः उठ खड़े होते हैं :—

(१) सन्तमत के अनुसार रहनी सहनी क्या है ?

(२) क्या सन्तमत के अनुसार रहनी सहनी अपनाये बिना काम नहीं चल सकता ?

(३) सन्तमत की रहनी सहनी अपनाने पर क्या सामाजिक व्यवहार करते रहना हानिकर है अथवा किस सीमा तक सामाजिक व्यवहार करना चाहिये ?

अब तक जो लिखा जा चुका है उसे पढ़ कर भली भाँति समझ लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तमत के अनुसार रहनी सहनी क्या है। इसका जितना विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय उतना ही कम है, उसका अन्त नहीं हो सकता किन्तु इस समय यहाँ केवल कुछ चुने हुए सिद्धान्त और निचोड़ लिखे जाते हैं जो प्रायः प्रत्येक बात तथा कर्म के साथ गुंथे रहते हैं।

उनमें से सर्वप्रथम विश्वास है और वह आवश्यक है। विश्वास से तात्पर्य यह है कि ऊँचा आदर्श चुनना चाहिये। जैसा जिसका विचार होता है वैसा ही उसका फल होता है। अतः अपने लक्ष्य अथवा ध्येय का चुनाव अपने दृष्टिकोण को ऊँचा रख कर करना चाहिये। उदाहरण से, इसको इस प्रकार समझिये। सन्तमत को छोड़ कर अन्य मतों का यह लक्ष्य है कि मनुष्य को अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठ कर पारब्रह्म में लय हो जाना।

चाहिये, और इसके लिये वह आजीवन प्रयत्न किया करते हैं। सन्तमत के अनुयायी भी इससे सहमत हैं कि नीचे के स्थानों से उन्नति करके पारब्रह्म का सामीप्य प्राप्त करें अथवा उसमें लय हो जायें, किन्तु उनका यह भी कहना है कि केवल इतने से ही काम नहीं चलेगा और मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। अतः पारब्रह्म के स्थान से आरम्भ करके सतपद के स्थान तक पहुँचने का निश्चय बाँधते हैं और इसी के अनुसार प्रयत्न भी करते हैं। उनका विश्वास है कि मध्य को स्थितियों को पार करना होगा। अतः देवताओं, शक्तियों आदि का सामीप्य भी होगा तथा उनमें लय होने की अवस्था भी आयेगी। किन्तु उनसे पार जाने का ध्यान रखना चाहिये और उसके लिये प्रयत्न जारी रखने चाहिये।

लोक व्यवहार में सत से काम लेते हैं। चूँकि यह जगत सत और असत की मिलौनी है अतः असत से काम निकाल कर उसमें मन नहीं लगाते। जब आवश्यकता पड़ती है उससे काम निकाल कर अलग हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे लघुशंका और शौच के लिये अवश्य जाना पड़ता है।

अपना स्वभाव और रहनी सहनी ऐसी नहीं बनाते जिसके कारण इस संसार को छोड़ते समय दुख हो और प्राण अटक कर रह जायें। प्रकट और अप्रकट रूप से सदा अपने आपको ऐसे कार्य करते रहने का आदी बना लेते हैं जिससे स्वयं को कोई दैहिक, चारित्रिक तथा आत्मिक कष्ट न हो। दूसरों को अपने मन, वचन और कर्म से कोई शारीरिक, चारित्रिक तथा आत्मिक कष्ट नहीं पहुँचाते और न कोई ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे इस प्रकार के कष्टों के पहुँचने की सम्भावना हो। उनके सामाजिक व्यवहार भी ऐसे शोधे हुए होते हैं जिनसे किसी प्रकार के समाज को ज्ञान तथा अभ्यास-सम्बन्धी मौखिक अथवा लिखित

कोई आपत्ति न हो। उच्च आदर्श होने के कारण नीचे के सब स्थानों पर उनका अधिकार होता है और सब की वास्तविकता का ज्ञान होने के कारण उन्हें किसी से द्वेषभाव नहीं रहता और न कट्टरपन। अतः अपने को किसी से न्यारा नहीं मानते। उनमें दोष देख कर भी उनसे घृणा नहीं करते, वरन सच्ची नियत और सच्चे इरादे से उनकी भलाई चाहते हैं। इस विचार से कि प्रत्येक को चित्त की शान्ति प्राप्त हो वे अपनी दया और सहानुभूति द्वारा सब के दृष्टिकोण को ऊँचा कर देने का प्रयत्न करते रहते हैं। उनके मत में चमत्कार अनिवार्य नहीं है, वे क्रयामत में बख्शवाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेते, न सांसारिक कामों में सफलता का वचन देते हैं, न वे गण्डे तावीज बनाते हैं और न अपनी दुआ से मुक़दमे जितवाते हैं, न व्यवसाय में उन्नति कराते हैं, न झाड़ा फूँकी द्वारा रोग दूर करते हैं और न भविष्य की बातें बतलाया करते हैं। न वे अपना प्रभाव दूसरों में इस प्रकार प्रवेश करते हैं कि शिष्य को कुछ करना न पड़े, उसकी स्वतः उन्नति होती जाय, उसके सब पाप क्षमा कर दिये जायें, उसे पाप का विचार तक न छू जाय, उसके उपसना सम्बन्धी सब कार्य स्वतः होते जायें और उसे निश्चय भी न करना पड़े। न ऐसी आन्तरिक स्थिति उत्पन्न होने की कोई अवधि निश्चित है कि हर समय उपासना में आनन्द से भरपूर रहे, पूजा करते समय इधर उधर के विचार तथा कोई बाधा न आये, खूब रोना आये, ऐसा ध्यानमग्न हो जाय कि अपने पराये की सुधि न रहे, जप और ध्यान करते समय ईश्वरीय प्रकाश दिखाई दे, अनहद नाद सुनाई दे। न सुन्दर स्वप्न दिखाई देना आवश्यक है और न आन्तरिक अनुभवों का सत्य होना आवश्यक है।

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह सब दावे किये जायें, वरन यह प्रभु की इच्छा पर निर्भर है कि यदि उसे स्वीकार हो

तो ऐसा हो जायगा। वास्तविक लक्ष्य तो परमात्मा को प्रसन्न रखना है और उसकी प्रसन्नता इसमें है कि जहाँ तक सम्भव हो धर्मशास्त्र के अनुकूल चलना चाहिये।

धर्मशास्त्र के कुछ बाह्य नियम हैं जैसे सन्ध्या, उपासना, व्रत, तीर्थ, पर्यटन, दान, विवाह, स्त्री पुत्रादि, भाई-बहिन, कुटुम्बी, मित्र, माता-पिता, पड़ोसी आदि के प्रति अपना कर्तव्य पालन करना। लेन-देन और व्यवहार, मुकदमों की पैरवी, गवाही देना, वसीयत, मृत्यु के उपरान्त अपनी सम्पत्ति का बँट-वारा, बोल-चाल, खान-पान, सोना, यात्रा करना आदि बातें बाह्य नियमों से सम्बन्धित हैं। ईश्वर प्रेम, उसका भय, उसकी याद, संसार से प्रीति कम करना, प्रभु की इच्छा के अनुकूल रहना, द्वेष न करना, उपासना में जागरूक रहना, परमार्थ के कामों में चाव, किसी को तुच्छ न समझना, स्वार्थी न होना, क्रोध को वश में करना आदि बातें आन्तरिक नियमों में आती हैं जिन्हें सूफ़ी भाषा में 'सलूक' कहते हैं।

आन्तरिक दोषों के उत्पन्न हो जाने से उसका प्रभाव बाहर प्रकट होने लगता है जैसे ईश्वर के प्रेम में कमी आ जाय तो उपासना में सुस्ती होने लगती है, प्रार्थना और नुमाज़ जल्दी-जल्दी बिना क़ायदे के पढ़ लेते हैं, कंजूसी के कारण दान करने या तीर्थाटन करने की वृत्ति में कमी हो जाती है, अहंकार और क्रोध के कारण किसी के साथ अन्याय हो जाता है, हक़दारों का हक़ नहीं मिलता।

यदि प्रत्यक्ष कर्मों में सावधानी भी बरती जाय तो भी जब तक मन शुद्ध नहीं होता वह सावधानी थोड़े दिनों ही चलती है। अतः इन दो कारणों से मन की शुद्धि आवश्यक है। किन्तु यह आन्तरिक दोष तनिक कम समझ में आते हैं और जो समझ में आते हैं तो उनके सुधार का उपाय कम मालूम होता है। यदि

मालम भी हो तो मन की खेंचा-खेंची से उस सुधार की कार्यवाही कठिनतापूर्वक होती है। अतः पूर्ण गुरु की आवश्यकता होती है कि वह इन बातों को समझकर सावधान करता है तथा उनका इलाज और उपाय बतलाता है। मन के सुधार के लिये योग्यता पैदा हो जाय और ऐसी शक्ति आ जाय जिससे मन वश में होने लगे इसके लिये वह कुछ अभ्यास, मनन और ध्यान की शिक्षा देता है। पूर्ण गुरु की शरण में आकर जिज्ञासु को मुख्यतयः दो काम करने होते हैं। गुरु के सम्पर्क में आकर उसकी अनुमति और आज्ञा से अभ्यास सीखने से पूर्व पूर्ण विश्वास तथा दृढ़ मनोबल उत्पन्न करना पहला काम है। दूसरा काम यह है कि गुरु धारण कर लेने के पश्चात् उनके आदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करना, दृढ़प्रतिज्ञ रहना और अपनी दशा स्पष्ट रूप से सूचित करते रहना।

अब यह प्रश्न आता है कि क्या सन्तमत के अनुसार रहनी सहनी अपनाये बिना काम नहीं चल सकता ? इसका उत्तर यह है जो उदाहरण देकर समझाया जाता है। मनुष्य के स्थूल शरीर के रोग तो वैद्य, हकीम, डाक्टर आदि के इलाज से दूर हो जाते हैं और सदाचार सम्बन्धी तथा आत्मिक रोगों का उपाय सन्तों के पास है। डाक्टर ने कोई औषधि दी जो पाँच रुपये की एक मात्रा हो और आदेश दिया कि शीशी की डाट भली भाँति लगाये रखना जिससे औषधि का मूल तत्व उड़ने न पाये, औषधि पीने से पूर्व शीशी को अच्छी तरह हिला लेना, उसे ठण्डी जगह पर रखना, उसको गर्मी न पहुँचे, दिन में तीन मात्रायें भोजन से पूर्व लेनी हैं और भोजन में सागूदाना, खिचड़ी, मूँग की दाल और दूध प्रयोग करना है। अब यदि रोगी शीशी की डाट खुली छोड़ दे, ठण्डक में रखने की बजाय उसे धूप में या चूल्हे के पास रख दे, पीने से पहले शीशी को हिलाये नहीं, एक बार में दो बार

की दवा एक साथ पी जाये और तीसरी मात्रा पीना भूल जाये, या जैसा कि बहुत से रोगियों की आदत होती है कि औषधि को जान-बूझकर फेंक देते हैं और जितना अधिक उन्हें समझाओ उतना ही उल्टा करते हैं, वैसा करे, भोजन में जो पथ्य बताया गया है उसकी अपेक्षा माँस, घुइयाँ, सोहन हलवा आदि जैसी वस्तुएँ प्रयोग करे तो उस औषधि का क्या परिणाम होगा इसका आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं ।

दूसरा उदाहरण यह है कि आप एक अत्यन्त कोमल पौधा लगायें और उसमें खाद उसकी प्रकृति के प्रतिकूल डालें, पानी कभी न दें और न पशुओं से उसकी रक्षा करें तो उस पौधे का क्या हाल होगा ।

तीसरा उदाहरण सुनिये । आप गुलाब का बहुत बढ़िया अर्क जो सबसे अधिक कीमत का हो, मँगवायें और शीशी को खुला हुआ अलमारी के नीचे के खाने में रख दें और ऊपर के खाने में मिट्टी के तेल का एक ऐसा पात्र रख दें जो टूटा हुआ हो और रिसता हो और जिसका तेल टपक-टपक कर शीशी में गिरे तो फिर उस गुलाब के अर्क का क्या हाल होगा ? इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण हो सकते हैं ।

इसी तरह आप चाहे कितना ही अभ्यास, मनन, जप आदि करें किन्तु यदि स्थूल शरीर से सम्बन्धित जितने आदेश हैं उन सबका पूर्णतया नियमानुसार पालन नहीं करेंगे तो लाभ न होगा ।

सम्भव है कि आप यह चाहते हों कि अभ्यास तो करें सन्तमत का और अपनी रहनी-सहनी रखें वर्तमान समाज के अनुरूप जो बहुत गिरी हुई दशा में है । इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं दे सकते हैं । हाँ, ऐसे व्यवहार, जैसे विवाह, रिश्तेदारी, रीति-रिवाज आदि, वर्तमान समाज के अनुरूप कर सकते हैं जिससे

सन्तमत के मूल सिद्धान्तों की नींव को ठेस न पहुँचे और धर्म का लोप न हो जाय। आजकल मामूली मोटी-मोटी बातें जो रीति-रिवाज में सम्मिलित हो गई हैं बुरी नहीं समझी जाती हैं, किन्तु उनसे वास्तव में धर्म की नींव को ठेस पहुँचती है। उनका अवश्य ध्यान रखें। उदाहरणतयः नशीली वस्तुएं खल्लमखल्ला या छिपे तौर से प्रयोग करना, जुआ खेलना, बाजारी स्त्रियों से सम्बन्ध रखना इत्यादि। यह बातें ऐसी नहीं हैं जो बहुत बारीक हों और समझ में न आ सकें। पहले इन बातों से अपने आपको बचाना चाहिये, उसके पश्चात् बारीक बातें भी ज्ञात हो जायेंगी।

नियम

यहाँ कुछ नियम सन्तमत (विशेषकर रामाश्रम सत्संग) के अनुयायियों के कल्याणार्थ दिये जाते हैं, जिनका विश्वास परिपक्व नहीं है, ढिलमिल है, उनके लिये नहीं हैं :—

(१) परमात्मा में पूर्ण विश्वास होना चाहिये। जिस प्रकार किसी मनुष्य को किसी वस्तु की तलाश है और हर जगह माँगने पर भी कोई उसको वह वस्तु नहीं देता तो वह बिल्कुल निराश होकर बैठ जाता है। इसी तरह प्रत्येक भाई-बन्धु, कुटुम्बी, मित्र, अधिकारी-अधिकृत, राजा-रङ्क सबसे निराश होकर रहे। यदि कोई उसकी सहायता करे तो उसे परमात्मा की ओर से समझे और यह विचार करे कि जिसके द्वारा सहायता मिली है, परमात्मा ने उसके दिल में यह प्रेरणा भर दी है जो वह इस प्रकार सहायता कर रहा है। उसको परमात्मा को धन्यवाद देना चाहिये और फिर उस व्यक्ति का अपने भीतर और बाहर से कृतज्ञ होना चाहिये क्योंकि उसने ऐसे आदेश को जो परमेश्वर ने दिया, स्वीकार किया और उसका पालन किया।

(२) अपने से प्रत्येक बड़े का आदर और सम्मान करता

रहे। अपने से छोटों को प्रेम करे, उनकी आवश्यकताओं को भर-सक पूरा करने का प्रयास करे तथा उनके दोषों को क्षमा करता रहे। अपने बराबर वालों के साथ स्नेह, सहानुभूति और उचित सहायता करे। जो मनुष्य बिना बात विरोध करने पर तुले हुए हैं उनसे अपना बचाव, उनके प्रति उदासीनता और उनसे अपने-आपको अलग रखना चाहिये, जिस प्रकार ऋणी अपने साहूकार से घबराता है या कंजूस अपना धन व्यय करने से बचना चाहता है। किन्तु यदि वे भी सहायता के इच्छुक हों तो उनका काम कर देना चाहिये और फिर अलग हो जाना चाहिये। उनसे घृणा करने या उनको क्षति पहुँचाने अथवा बदला लेने की भावना नहीं रखनी चाहिये।

(३) प्रत्येक मनुष्य के दोषों को छिपाते रहना चाहिये और यदि किसी का कोई भेद मालूम है तो बिना उसकी अनुमति के किसी पर प्रकट नहीं करना चाहिये। अपनी गलती को तुरन्त स्वीकार कर लेना चाहिये और हठ नहीं करनी चाहिये। तर्क और आलोचना से बचते रहना चाहिए। अपने दोषों पर दृष्टि रखनी चाहिये। यदि दूसरों में दोष दिखाई देते हैं तो उससे स्वयं सीख लेनी चाहिये।

(४) किसी के दोष को मुँह पर नहीं लाना चाहिये। सम्भव है वह दोष तुममें भी हो जाये। बिना जाँच-पड़ताल किये किसी को दोषी नहीं ठहराना चाहिये। यदि अपना कोई कुटुम्बी या पुत्र भी चरित्रहीन हो तो उसका बेजा साथ नहीं देना चाहिये क्योंकि उसे उस दुष्कर्म को बार-बार करने का बढ़ावा मिलता है। यदि समझाने से न माने तो उसे छोड़ कर अलग हो जाना चाहिये।

(५) अपमान और बुराई बुरे चरित्र और बुरे व्यवहार से होती है। झूठा वायदा करने से अपमान होता है।

(६) ऋण लेना सबसे बुरा है। यदि अत्यन्त आवश्यक है तो कोई हर्ज नहीं है। आवश्यकता का अवसर सोचने और समझने से उत्पन्न हो सकता है। जो ऋण किसी दिखावे के कारण लिया जाता है उसका चुकाना कठिन हो जाता है। यदि किसी दुख-मुसीबत या भोजन आदि की आवश्यकता को पूरा करने या कन्या के विवाह करने या अकालग्रस्त होने के कारण लिया जाता है और यदि लेने वाले की नीयत ठीक है तो परमात्मा उसकी सहायता करता है और वह कभी-न-कभी चुकता हो जाता है। अपने साहूकार के सामने जाते रहना चाहिये, मुँह छिपाना मना है। नौकर से वह काम लेना चाहिये जिसको करने से स्वयं तुम मजबूर हो। वह नौकर तुम्हारी सहायता करने के लिये है न कि तुम्हारी विलासप्रियता की पूर्ति के लिये। मजदूर की मजदूरी तुरन्त दे देनी चाहिये। टालमटोल करना दुराचार है।

(७) अपनी सन्तान को धार्मिक शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। अपनी पत्नी को किसी-न-किसी प्रकार अपने समान विचारों का बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(८) जहाँ मदिरापान हो रहा हो, नशीली वस्तुओं के प्रयोग के साथ-साथ नाच-गाना हो रहा हो, वहाँ सम्मिलित होने से अपने आपको भरसक बचायें और यदि मजबूरी सम्मिलित होना पड़े तो इस तरह सम्मिलित हों जिस तरह शौच के लिये मजबूरी जाना पड़ता है।

(९) संगीत में मन न लगायें और उसमें आनन्द न लें। यदि मजबूरी कहीं सुनना पड़े तो उससे ऐसा परहेज भी न करें कि और लोग ताड़ जायें और यह समझें कि दूर भागते हैं।

(१०) यदि परिवार वाले अथवा सम्बन्धी ऐसे कार्य करने को विवश करें, जिनके करने से धर्म नष्ट हुआ जाता हो, तो यदि आवश्यक हो तो सम्बन्ध तोड़ दे क्योंकि नाते-रिश्तेदार,

मित्र व स्नेही आपत्ति-काल में तो सहायक होते नहीं और यदि धनवान भी हों तो एक कौड़ी ऋण नहीं देते बल्कि आलोचना करते हैं और ताने देने को हर समय तैयार रहते हैं। फिर उनसे कोई आशा बाँधकर अपना सत्यानाश क्यों किया जाय।

सारांश यह है कि सन्तमत के सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे और किसी से झगड़ा न करे। दूसरों के प्रति सहानुभूति, करते हुए ईश्वर की इच्छा के अनुकूल रहना चाहिये। सदा भगवान के आश्रित रहना चाहिये और उसकी बनाई हुई प्रकृति के नियमों के अनुकूल कर्म करना चाहिये।

सन्तमत के अनुयायी तथा अन्य मतों के महात्मा

प्रश्न यह है कि जहाँ आप इस समय रह रहे हैं क्या वहाँ किसी अन्य मत के साधु-महात्मा मौजूद हैं और क्या सन्तमत के अनुयायी होते हुए भी आप उनके सत्संग में नियमानुसार सम्मिलित होते हैं और आपका विश्वास वहाँ भी है या नहीं ? क्या जो अभ्यास सन्तमत का है उसके अतिरिक्त कोई अन्य अभ्यास भी आप करते हैं ?

यह प्रश्न बड़े अनुभव के पश्चात किया गया है। बहुत से मनुष्य इस प्रकार के आते हैं कि वह यह चाहते हैं कि जो उनकी समझ में आये वही करें। जैसे (१) ध्यान करने में उनको यदि किसी सूक्ष्म वस्तु का ध्यान करने को कहा गया है तो वे थोड़ी देर के लिये तो उसका अभ्यास करते हैं, उसके पश्चात अधिकतर समय अपनी पुरानी बातों के अभ्यास में व्यतीत करते हैं। मान लीजिये कि कोई चित्र उन्होंने अपने कमरे में लटका रखा है या कोई मूर्ति रखी है तो वे उन्हें सामने रखकर उनका ध्यान बाँधते हैं। अब सोचिये कि उन्हें तो यह बताया गया था कि बिना मूर्ति के शून्य का ध्यान किया जाय या अन्तर में प्रकाश का ध्यान किया जाय, किन्तु वह बिल्कुल विपरीत करते हैं। (२) यदि किसी को बताया जाता है कि अपने घट के भीतर जो प्राकृतिक शब्द या ध्वनि हो रही है उसको सुनें और उसी पर ध्यान लगावें। यद्यपि उन्हें शब्द सुनाई देता है किन्तु वे एक

मन्त्र का जाप, जो पहले किसीने बताया था, बराबर किये जाते हैं। (३) सिद्धान्त यह बताया गया था कि परमपिता परमेश्वर मूर्तिमान वस्तुओं, नाम और रूप के आवरणों से बहुत परे है किन्तु वह सगुण मूर्तियों के ध्यान में लगे हैं। बतलाया यह जाता है कि अकेला ज्ञान-काण्ड बिना अभ्यास के केवल वाचक-ज्ञान है जो बेकार है और धोखा है, अतः कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों को अत्यन्त विधिपूर्वक नित्य करना चाहिये किन्तु वह केवल ज्ञान और वह भी वाचक-ज्ञान में हस्तक्षेप करते हैं।

यह भली भाँति ज्ञात है कि 'एक के साधे सब सधे, सब साधे सब जाय', किन्तु उनकी यह आदत है कि जो कोई साधु मिल गया उसके पास पहुँच गये, पूजा की जो विधि उसने अपने सम्प्रदाय के अनुसार बतलाई उसको ग्रहण कर लिया और अपने असली अभ्यास को खिचड़ी बना लिया। एक साधु के सत्संग में जाते हैं और फिर जो कोई अन्य मिल जाये उससे भी अभ्यास की विधि पूछने चले जाते हैं। एक दिल है और मोहब्बत किस-किससे जोड़ने की कोशिश करते हैं और अन्त में कहीं के नहीं रहते।

इनमें से बहुत से यह प्रश्न करते हैं कि क्यों साहब, क्या हर्ज है कि अमुक व्यक्ति ने हमको यह अभ्यास बतलाया था वह हम सब करते हैं और आपका बतलाया हुआ भी अभ्यास करते हैं। अब इसका उत्तर क्या और किस प्रकार दिया जाय। आप स्वयं अनुमान लगा लें।

कोई-कोई सत्संगी ऐसे समाज में भी जाकर सम्मिलित होते हैं जहाँ सिद्धान्त और नियम के विरुद्ध शिक्षा दी जाती है। शिक्षा ही नहीं दी जाती बल्कि इस पन्थ के आचार्यों को कोस-कोस कर बहुतेरा बुरा-भला भी कहा जाता है। किन्तु वे सत्संगी हैं और उनका स्वाभिमान है कि अपने आचार्यों के प्रति गालियाँ सुनने में उन्हें आनन्द आता है।

अधिकतर सज्जन ऐसे हैं कि जो तरीका उन्होंने पहले से अपना रखा है चाहे वह कितना ही अपूर्ण और तुच्छ है, अपनी हठ और आदत बन जाने के कारण उसी को मुख्य समझते हैं और वर्तमान तरीके को गौण। पुराने अभ्यास को वे ठीक समझते हैं और उसे करते हैं, उसके बाद में यदि समय बचा तो नये अभ्यास को कर लेते हैं अन्यथा बिल्कुल नहीं। कुछ ऐसे भी सज्जन हैं कि उनके मन में तो कुछ अन्य सिद्धान्त दृढ़तापूर्वक बसे हुए हैं किन्तु अपने आचार्य का मन रखने के लिये उसकी भी हाँ-में-हाँ मिला देते हैं।

कुछ सज्जन ऐसे हैं कि अचानक उनके मित्र आ गये तो उनके साथ वे भी चल पड़े। तरीके से वास्तव में उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं है। उनको अपने मित्र की प्रसन्नता मंजूर है और एक प्रकार का अहसान अपने साथी पर रखना चाहते हैं। कुछ सज्जन ऐसे हैं कि जहाँ उन्हें कड़ा पकड़ा कि ऐसे गायब होते हैं जैसे गधे के सिर से सींग। उनके लिये तो यह आवश्यक है कि वे कुछ भी करें उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें करने दिया जाय।

कुछ सज्जन केवल इसलिये आते हैं कि आँखें बन्द कीं और ध्यान में पिनक आ गई। आनन्द लेकर हाथ झाड़कर उठ खड़े हुए और असली सत्संग से जाकर दूसरे नकली आनन्द के मजे भोगने लगे।

कुछ सज्जन यह शिकायत करते हैं कि हमेशा तो वैसा आनन्द आता ही नहीं और हमेशा तो एकसी तबियत लगती ही नहीं। किन्तु उनसे यह सवाल करना चाहिये कि आपने भी तो हमेशा सत्संग नहीं किया। सन्ध्या के समय यदि पन्द्रह मिनट सत्संग कर लिया तो रात भर कहीं और रहे। फ़ारसी की एक कविता है :—

वायजां चूं जलवा बर महाराबो मम्बर मीं कुनद ।

चूं बखिलवत मीं रविन्दां कार दीगर मीं कुनद ॥

(भावार्थ—वक्ता लोग जिस समय वक्तव्य देते हैं तो बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, किन्तु जब एकान्त होता है तब कोई दूसरा काम करते हैं ।)

तत्व यह है कि जब तक सत्संगी में परिपक्वता न आ जाये उस समय तक जो सत्संग में ठान लिया है वही करें । हरजाई नहीं बन जाना चाहिये अन्यथा सब बेकार है ।

क्या आपके माता-पिता आपके विचारों को भली भाँति समझते हैं या नहीं ?

यह प्रश्न किसी विशेष अभिप्राय से रखा गया है। मेरा यह अनुभव है कि सत् तथा सत् के मार्ग में अनेकों बाधाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। यद्यपि माता-पिता का जीवित होना बड़े सौभाग्य की बात है किन्तु इस विशेष विषय में यानी सत् के ग्रहण करने और कराने में उनकी उपस्थिति कभी-कभी अत्यन्त बाधक होती है। जिन माता-पिता का स्वयं तो ध्यान इस ओर आजीवन नहीं हुआ, न कभी उनको इस प्रकार का सत्संग लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनके लड़कों के लिये, जिन्हें सौभाग्यसे अथवा अनायास ही ऐसा सत्संग मिल गया या मिल जाता है, एक बड़ी बाधा उनके माता-पिता हैं। वे जहाँ सांसारिक बातों में अपने-आपको बड़ा जानकार और अनुभवी समझते हैं उसके साथ-साथ दुर्भाग्य से परमार्थ के विषय में भी अपना अनुभव दिखाते हैं। यदि उनके परमार्थ विषयक अनुभव का विस्तार ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञात हो जायगा कि उसका क्या माप है। उनका कहना है कि बच्चों को बाल्यावस्था में सत्संग की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। जब वृद्धावस्था आयेगी, सिर हिलने लगेगा, हाथ-पाँव थक जायेंगे, मन, बुद्धि, चित्त कुछ काम नहीं करेंगे, कोई बात याद नहीं रहेगी, बाहर से घर के भीतर तक जाने में हाँप जाया करेंगे, ऐसी आयु में इस सत्संग के करने का उपयुक्त समय होगा। यह बाल्यावस्था तो खेल-कूद, पढ़ने-लिखने और युवावस्था धन-

उपार्जन करने, दुराचार सीखने, जुआ खेलने, मदिरा पीने, दूसरों का माल हड़पने, ताश-गंजफ़ा खेलने, बाजारी स्त्रियों में चक्कर काटने आदि के लिये है। आशय यह है कि सिवाय सत्संग के अन्य सब बातों के लिये समय है। मेरा अनुभव है कि इस सत्संग में युवकों के लिये आध्यात्मिक शिक्षा के विषय में जितनी अधिक बाधा माता-पिता की ओर से हुई है उतनी और कहीं से नहीं।

आजकल के अनेक सभ्य और न्यायप्रिय शिक्षित मनुष्य यह स्वीकार करने लगे हैं कि आध्यात्मिक शिक्षा की भी आवश्यकता है और लड़कों को भी इसमें सम्मिलित होना चाहिये। वे स्वयं भी उसमें सम्मिलित हैं किन्तु इस जानकारी के अतिरिक्त भी वे दिल के इतने कच्चे हैं कि अपने लड़कों का आध घण्टे के लिये सत्संग में सम्मिलित होना उन्हें नहीं भाता। उनका विचार है कि इस आध घण्टे में भी उन लड़कों की पढ़ाई में इतना हर्ज हो जाता है कि जितना दूसरे पन्द्रह-सोलह घण्टों में नहीं होता। वह स्वयं इन स्थितियों से निकल चुके हैं और जानते हैं कि विद्यार्थी स्कूल के समय में किस प्रकार अपना समय व्यतीत करते हैं। और फिर गेंद खेलते हैं, हँसी-मज़ाक़ और बेहूदा और दुराचार की छिपी हुई सोसाइटी में चोरी-चोरी अपना अमूल्य समय नष्ट करते हैं। वह समय उनकी समझ में व्यर्थ नहीं जाता और यही आध घण्टा सत्संग का इतना मँहगा पड़ता है कि इससे ईश्वर बचाये? अतः यह प्रश्न यहाँ रखा गया कि माता-पिता अपने पुत्रों के विचारों को भली भाँति समझते हैं या नहीं।

धर्मपत्नी और विचारधारा

प्रश्न यह है कि क्या आपकी धर्मपत्नी आपके ही समान विचारों वाली है या नहीं। यदि हाँ, तो क्या वह सन्तमत का अभ्यास करती है और यदि अभ्यास करती है तो क्या बेकार के रीति-रिवाजों को छोड़ सकती है ?

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यदि धर्मपत्नी आपके समान विचारधारा की है तो प्रत्येक बात में चाहे वह सांसारिक हो या परमार्थिक, अत्यन्त सुविधा रहती है। और यदि सन्तमत का अभ्यास करती है तो घर में ही एक सत्संगी मौजूद है। सन्तान पर इसका कितना अच्छा प्रभाव पड़ेगा क्योंकि बच्चे पर माँ का जितना अधिक असर पड़ता है उतना शिक्षक का नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त एक ही विचारधारा के होने के कारण मरणोपरान्त भी एक ही लोक में रहेंगे।

अब रहा प्रश्न बेकार के रीति-रिवाजों का। अभी पति में ही इतनी योग्यता नहीं है कि सब-कुछ जानते और समझते हुए भी ऐसे रीति रिवाजों को छोड़ दें, तो फिर स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? पहले पति वर्ग को चाहिये कि बुरे रीति-रिवाजों को छोड़ें। स्त्रियों को अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़वाना चाहिये और समझाना चाहिये। कभी समय आयेगा कि कुरीतियों को वे स्वयं छोड़ देंगी।



वैवाहिक नियम

सत्संगियों के लिये कुछ प्रस्तावित वैवाहिक नियम यहाँ दिये जाते हैं। जो सज्जन सामाजिक जटिलताओं के बन्धन से मुक्त होकर इन नियमों के पालन का साहस कर सकते हों वे उनका पालन करने का प्रयत्न करें किन्तु यह ज्ञात रहे कि जब तक कन्या और वर-पक्ष वाले दोनों ही सन्तमत के अनुयायी न होंगे तब तक इन नियमों के अनुसार विवाह नहीं हो सकता :—

(१) यह आवश्यक है कि एक सूची बनाई जाय जिसमें सत्संगियों के विवाह योग्य लड़के व लड़कियों के नाम, आयु, शिक्षा इत्यादि का सूक्ष्म व्यौरा हो। जहाँ विवाह के लिये वर या कन्या की खोज करनी हो तो पहले उस सूची को देख लें और यदि उसमें अपनी पसन्द का लड़का या लड़की न मिले तब दूसरी जगह देखें।

(२) जैसा कि अब तक चला आया है, अपनी ही जात-पाँत में विवाह करें और यदि किसी अन्य जाति में करने की इच्छा हो तो ऐसा भी कर सकते हैं। (Intercaste marriage).

(३) विधवा विवाह भी यदि उनकी जात की अनुमति हो तो किसी सभा, सोसाइटी के रीति रिवाज के अनुसार करें।

(४) वर या कन्या की खोज में जो-जो बातें इस समय तक देखी जाती हैं उनका ध्यान रखें।

(५) गरीबी और अमीरी के प्रश्न को जहाँ तक हो सके हटा दें।

(६) उजलेपन का प्रश्न और सामाजिक स्तर का ध्यान अवश्य रखना चाहिये ।

(७) अधिक धनवान के यहाँ कन्या न दें ।

(८) अपने से अधिक धनवान के यहाँ लड़के का विवाह न करें ।

(९) बी० ए० और एम० ए० पास लड़कों को ज़रा देख भाल लें और केवल उनके पास होने की योग्यता को ही ध्यान में न रखें । उनके चालचलन और सदाचार के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेना उपयुक्त है ।

(१०) लड़की और लड़के का स्वास्थ्य देखना चाहिये । जहाँ तक सम्भव हो सके, जिन लड़कों को कोई हुनर आता है, और कोई शिल्पकला या दस्तकारी जानते हैं, उनको पसन्द करें । उसके बाद व्यवसाय वाले को और सब से अन्त में उसको जो नौकरी पेशा हो ।

(११) जो रीति और रिवाज जारी हैं उनकी वास्तविकता मालूम है और वे समाज के बनाये हुए हैं । अतः आपको जिस समाज में रहना है उसी के रीति रिवाजों को अपनाना होगा ।

(१२) विवाह पुराने शास्त्रों के अनुसार हो या आर्यसमाज के नियमानुसार, जैसा आपस में तय हो जाय । अन्य रस्में स्वयं आपस में तय कर लें ।

(१३) अच्छा तो यह होगा कि लड़के और लड़की वाला, लड़के और लड़की को लाकर या जो थोड़े से सगे सम्बन्धी साथ आना चाहें, भण्डारे के अवसर पर आ जायें । बराती और घराती सब सत्संगी होंगे । किसी विशेष प्रीति भोज की आवश्यकता नहीं है । एक दिन रहकर अपने-अपने घरों को लौट जायें । यदि भण्डारे पर न ला सकें तो केवल सत्संगियों को बुलावें और जो सम्बन्धी या कुटुम्बी ऐसे हों कि विघ्न पैदा करें उन्हें न बुलावें ।

(१४) चढ़ावा, गहने ठोस बनवायें जो काम आवें ।

(१५) यह गहने या तो इक्यावन रुपये के हों या एक सौ पच्चीस या दो सौ पचास रुपये के । इससे अधिक मूल्य के गहने न चढ़ाये जायें । यदि इससे अधिक देना हो तो अपने घर पर मुँह दिखरौनी या किसी अन्य अवसर पर देने चाहिये । इसके लिये मनाई नहीं है ।

(नोट—जिस समय यह नियम लिखे गये थे तब सोने का भाव लगभग बीस रुपये तोला था ।)

(१६) बहुत अधिक मूल्यवान वस्त्र विवाह के समय नहीं होने चाहिये । विवाहोपरान्त जितने चाहें, पहन सकते हैं ।

(१७) विवाह के अवसर पर सामाजिक प्रीति भोज मना है । यदि रुपया है तो विवाह के बाद कर सकते हैं । ऋण लेकर न करें । भोज में मुख्य-मुख्य सम्बन्धियों और मिलने वालों को बुलाना चाहिये । अपनी नामवरी और ख्याति का विचार छोड़ दें ।

(१८) बाज़ार में बरात का ठाट-बाट (Pomp and show) के साथ घुमाना मना है ।

(१९) नज़राने या भेंट की राशि केवल मान्य और सगे सम्बन्धियों तक ही सीमित हो । शेष आदमियों के लिये आवश्यक नहीं है ।

(२०) अंकमाला फ़िज़ूल है ।

(२१) करारदाद या ठहरौनी की कुप्रथा को समाप्त कर देना चाहिये । इसके कारण कन्याओं के विवाह में बाधा पड़ती है । देखा गया है कि कन्या सर्वगुण सम्पन्न होते हुए भी करार-दाद न दे सकने के कारण कुआँरी बैठी रहती है या किसी ऐसी जगह ब्याही जाती है जो उसके गुणों की तुलना में तुच्छ होती है, वर भी योग्य नहीं मिल पाता । आजन्म दुःख और पछतावा रहता है । बहुत-सी स्वाभिमानी कन्यायें इस कुप्रथा के कारण

या तो आत्महत्या कर लेती हैं या आजन्म कुँआरी रहना पसन्द करती हैं। यह समाज के ऊपर बड़ा भारी कलक है। लड़के वालों को चाहिये कि इस पर ध्यान दें और इस कुप्रथा को समूल नष्ट करने का प्रयत्न करें। यदि वे ऐसा न करें तो समाज को आन्दोलन द्वारा इस कुप्रथा का अन्त कर देना चाहिये।

किन्तु यह बातें तभी हो सकती हैं जब दोनों पक्ष एकमत हों। यह नियम जो ऊपर लिखे गये हैं सबके लिये नहीं हैं बल्कि केवल उनके लिये हैं जो अपने आपको खालिस सन्तमत का अनुयायी मानते हैं।



आर्थिक सामर्थ्य और दानवृत्ति

प्रश्न यह है कि यदि आपकी आर्थिक सामर्थ्य दान करने की है तो क्या सत्संग के बनाये हुए नियमों के अनुसार उसका विभाजन करने को तैयार हैं या अपने मनमाने पुराने ढकोसलों के साथ ।

मनुष्य में यदि उदारता का गुण नहीं है तो वह दोषपूर्ण है। धार्मिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त सामाजिक दृष्टिकोण से अपनी आय का कोई कम-से-कम भाग अवश्य दान के हेतु अलग रखना चाहिये। कोई धर्म ऐसा नहीं है जिसमें दान, सिद्धा और जकात का प्रश्न आवश्यक न समझा गया हो। यदि ऋणी न हों तो अवश्य दान हेतु कुछ धन निकालना चाहिये। यह अनिवार्य है। कर्जदारी का वहाना करना दान के लिये कोई रुकावट नहीं है। जब दूसरे सैकड़ों हजारों काम चलाये जाते हैं तो केवल इसी को उचित न ठहराना घोर अन्याय और धार्मिक नियमों के विपरीत है। अब ऐसी धन राशि का विभाजन कहीं-कहीं तो उपयुक्त है और कहीं दोषपूर्ण। एक तो धन इस प्रकार अलहदा करते हैं कि जब चाहे निकाल दिया, उसका कोई सिद्धान्त नहीं है। दूसरा यह कि नियम और समय की पाबन्दी से आय के अनुपात से कोई रकम निकाल दी। पहला तरीका अत्यन्त दोषपूर्ण है। दूसरे तरीके में काम बहुत दिन चलता रहता है।

आपसे बहुत-से सरकारी और गैर-सरकारी लोग चन्दे अपनी अपनी सभा-सोसाइटियों के लिये ले जाते हैं। अतः इस रकम के व्यय हो जाने के पश्चात् आपके पास आपके ख्याल के अनुसार

धन विभाजन करने को शेष नहीं रहता, अथवा बिल्कुल कम रह जाता है। अतः इस तरह मजबूर हो जाते हैं कि आपकी बचाई हुई और दान की हुई धन राशि ऐसे मामलों में खर्च की जाती है कि जिससे आपको कोई दिलचस्पी नहीं या जो आपकी प्रवृत्ति और सिद्धान्त के विपरीत है। मतलब यह हुआ कि आपका गला घोट कर बलपूर्वक वह रकम आपसे खर्च कराई जाती है।

फ़ारसी की एक कहावत है "अव्वल खेश, बादहू दरवेश" (पहले अपनों को, बाद में भिखारियों को)। इस कहावत को आप चरितार्थ इस ढंग से करें कि पहले अपनी सोसायटी और हक़दारों की आवश्यकताओं की पूर्ति करें, तब दूसरों की खबर लेना वाजिबी है। आपका पड़ोसी भूखा है, नंगा है; आपका कोई सम्बन्धी भूखों मर रहा है; आपके परिवार वालों या नातेदारों के पास इतना धन नहीं है कि वह अपनी सन्तान को शिक्षा दिला सकें; आपकी सोसायटी के किसी सदस्य की युवा कन्या धन के अभाव में कुंवारी बैठी है; विधवायें नंगी उधारी हैं, भूखों मरती हैं फिर भी भीख नहीं माँग सकतीं और तड़प-तड़प कर जान दे रही हैं, और आप दान का रुपया हरिद्वार या किसी और स्थान पर ब्रह्मभोज व अन्नकूट में व्यय कर देते हैं। शिक्षा के लिये हजारों स्कूल और कालेज सरकार की ओर से व जनता के चन्दे से बने हुए मौजूद हैं और उसी में आप अपना रुपया भी लगा देते हैं। इसका कारण क्या है? केवल नामवरी और दिखावा। क्या सब मालदार एक ही ओर पिल पड़ेंगे? यह भेड़चाल नहीं तो क्या है? आगे चल कर अत्यन्त आवश्यक कामों का विवरण दिया जायगा जिनकी ओर लोगों की दृष्टि भी नहीं गई।

यह अनिवार्य है कि शादी विवाह के अवसर पर जो दान देने की रीति है उस पर दृष्टि रखें। जहाँ आप किसी अनाथालय

और किसी मन्दिर में दान का विभाजन करते हैं वहाँ भविष्य में आप सत्संग, समाज और साधू सेवाश्रम फण्ड में पहले धन दिया करें उसके पश्चात् अन्य स्थानों पर ।

मुण्डन कनछेदन, नामकरण, विद्यारम्भ संस्कार, लगुन तथा अन्य रस्मों पर जहाँ आप एक विशेष दिखावा करने में धन लगा देते हैं उस समय इस फण्ड का भी लिहाज करके एक विशेष धन राशि उसमें भी दे दिया करें ।

मृत्यु के बाद जो दान एकादशा, तेरहवीं, चौथा पट्टी, बरसी इत्यादि पर किया जाता है यदि वह वास्तव में विशेष लाभ किसी धार्मिक दृष्टि से करता हो तो ठीक है किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह कैसे व्यक्तियों के हाथ में जाता है । यह सब जानते हैं कि अधिकतर वह धन उनके हाथों में जाता है जो कुपात्र हैं । उसका व्यौरा देने की आवश्यकता नहीं है । यदि आपका यही विचार है कि बिना ऐसा किये पुण्य का फल किस प्रकार मिलेगा तो थोड़ी सी रकम शगुन के तौर पर उसमें व्यय करें, शेष फण्ड में दे दें । तेरहवीं, बरसी आदि पर बलपूर्वक गला घोट कर जो दावतें ली जाती हैं यह अत्यन्त क्लिष्ट ढंग है । इसका कारण केवल यह है कि ऐसा करने से तमाम विरादरी ने खा लिया और यह स्वीकार कर लिया कि अब सब शुद्ध हो गया, घर और उसमें रहने वाले सब शुद्ध हो गये । अतः खिलाने की रीति पूरी की गई । किन्तु जिनके पास कुछ नहीं है और बाल-बच्चे कल ही भूखों मरने को बैठे हैं उनसे बलपूर्वक ऋण लिवा कर तेरहवीं, बरसी आदि पर कौर निगले जाते हैं । बस, यह बुरी रस्म बन्द हो जाय तो बहुत कुछ खर्च बच जायेगा ।

मैं मजबूर नहीं करता कि आप ऐसा करें । यदि आपकी समझ में आ जाय तो कीजिये अन्यथा नहीं । यह दान, खैरात,

जकात आदि की धनराशि आप तभी निकाल सकते हैं जब आप अपनी इच्छाओं के घोड़े की बाग रोके रखें। यदि घोड़ा मुंहजोर है, उसकी लगाम ठीक नहीं लगी है तो इच्छाओं के समूह का क्या कहना है? अपने खर्च और आवश्यकता से पचास गुनी अधिक वस्तुएँ घर में पड़ी हैं किन्तु लोग खरीदे चले जा रहे हैं। यदि घर में दो-तीन रहने वाले हैं और पाँच सौ आदमियों के रहने योग्य मकान बना हुआ है, उम्दा है, आलीशान है, तो भी धुन लगी है, नई-नई इमारतों के नक्शे बन रहे हैं और काम जारी है। व्यर्थ ही हजारों रुपये व्यय किये जा रहे हैं। खैर, आवश्यकता इस बात की है कि धन का विभाजन ठीक प्रकार से हो। इस विषय में अपनी आसुरी वृत्तियों को काम में न लायें।

—: ० :—

लोक व्यवहार में सुधार

प्रश्न यह है कि क्या सांसारिक रीति रिवाजों में बिरादरी को प्राथमिकता देना आवश्यक है ?

यद्यपि लोग अनेकों रीति रिवाजों और व्यवहारों को बुरा समझते हैं और यह जानते हुए भी केवल इस भय से कि यदि हम अमुक रस्म नहीं करेंगे तो कुटुम्बी आपत्ति करेंगे, बिरादरी हुक्का पानी बन्द कर देगी, शादी विवाहों में बाधा पैदा हो जायगी, उस कुरीति को कर बैठते हैं। अब यह सोचिये कि किसी नीच जाति वाले के साथ खाने में या किसी बाज्जारी स्त्री के साथ खुल्लमखुल्ला सम्पर्क रखने में, या विजाति में विवाह करने में क्या बिरादरी वाले निकाल देते हैं ? क्या किसी बुरी रीति का पालन न करने से वे ऐसा कर सकेंगे ? यह सम्भव है कि कुरीतियों के पालन न करने से लोग नीच और कायर समझने लगें, किन्तु ज़माना अब वह नहीं रहा। लोग अनुचित सम्बन्ध खुल्लमखुल्ला रखते हैं किन्तु उन्हें बिरादरी से कोई नहीं निकालता है, और जो धनवान हैं वे तो मूछों पर ताव देते हैं और ताल ठोक कर कहते हैं कि कोई उनको निकाल तो दे। निर्धनों पर अवश्य आवाज़ें कसी जाती हैं और कायरतापूर्ण आक्रमण भी किये जाते हैं किन्तु अन्त में उसका परिणाम कुछ नहीं निकलता। लोग चुप होकर बैठ रहते हैं। सच्चाई यह है कि लोग केवल बहाना टटोलते हैं। उनका मन स्वयं भीतर से छोड़ने को नहीं करता। सोचिये तो कि बुरे कर्म करने से बिरादरी कुछ न कहे और सुधार के कार्य करने से लोग उसको छोड़

दें ? कदापि ऐसा नहीं हो सकता । यदि ऐसा होता भी है तो बहुधा यह देखा गया है कि बिरादरी वालों में आपस में होड़-बाज़ी होती रहती है, हमले और बचाव के प्रयत्न चलते रहते हैं । कुछ दिनों बाद बात पुरानी हो जाती है तो स्वयं मामला ठप्प हो जाता है । अतः जहाँ होड़बाज़ी की नौबत पहुँच जाय वहाँ समय को टाल देना अच्छा होता है । सम्भव है कि बिरादरी के लोग हठ छोड़ दें और यदि न छोड़ें तो क्या आपके सत्संगी भाई आपका साथ न देंगे ? कदाचित वे भी साथ न दें तो यदि आप सत्य पर हैं और आपका मन साफ़ है तो परिणाम सुखकर होगा ।



मनुष्य का उद्देश्य

मनुष्य का उद्देश्य यह है कि लोग आपस में एक दूसरे की सहायता करें और उन्नति सोचें तथा करें। सबसे बड़ा दान तो यह है कि विद्यादान दें। विद्याओं में सर्वोत्तम विद्या ब्रह्मविद्या है, उसका दान सर्वोत्तम दान है क्योंकि इससे मनुष्य अपने इच्छित लक्ष्य पर पहुँचता है। किन्तु शरीर और प्राण एक साथ हैं अतः कभी-कभी इस सम्बन्ध के कारण सांसारिक व्यवहारों में मायावी पदार्थों की भी आवश्यकता पड़ जाती है। यह बात आप उदाहरण द्वारा समझेंगे अतः मैं यहाँ उदाहरण देता हूँ। मैंने अपनी सारी आयु को केवल ब्रह्मविद्या तथा उसकी शिक्षा तक ही सीमित रखा है। जैसी कि अन्य सम्प्रदायों में प्रथा चली आती है, सामाजिक बातों को भी कुछ-न-कुछ साथ लेकर चलते हैं अथवा स्वतः उसका साथ आ जाता है जो कि अनुभव द्वारा मुझे ज्ञात हुआ। किन्तु मैं जानबूझकर उन बातों से बचता रहा। कुछ तो नौकरी में व्यस्त रहने के कारण और कुछ सांसारिक व्यवहारों के कारण समय न मिल सका। अतः केवल आन्तरिक सत्संग होता रहा। किन्तु जब सम्बन्ध अधिक विस्तृत होने लगते हैं तो उसके साथ-साथ सामाजिक व्यवहारों की भी बढ़ोतरी होती जाती है।

देखिये, भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न लोग रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी जानकारी बढ़ाने के लिये अपना हाल पत्रों द्वारा लिख कर उत्तर की प्रतीक्षा करता है। इस तरह पत्र-व्यवहार का क्रम जारी रहता है। यदि पत्रोत्तर का ही क्रम

इसी प्रकार जारी रहे तो ऐसी आवश्यकता प्रतीत होती है कि मौखिक सम्बन्ध को लिखित रूप दे दिया जाय जिससे वह एक सिलसिले में आ जाय और क्रमबद्ध हो जाय। जो लोग ऐसे मजबूर हैं कि सत्संग में अधिक समय व्यय नहीं कर सकते या कोई-कोई बिल्कुल नहीं आ सकते, उनको आदेश लिखित रूप में पहुँच जायें। बच्चों और महिलाओं के लिये शिक्षा का एक ऐसा तरीका चुनकर तैयार किया जाय जिससे उनके ज्ञान में वृद्धि हो। समय-समय पर सत्संग द्वारा छपी-छपायी पुस्तिकायें हर जगह जानकारी में वृद्धि करने के लिये भेजी जायें।

जो इच्छुक और जिज्ञासु नित्य मेरे पास आते रहते हैं उनकी संख्या मेरे अवकाशप्राप्त हो जाने के कारण बढ़ गई है। उन्हें ठहराने और सुविधायें देने के लिये मेरे पास यथेष्ट स्थान नहीं है और यदि है तो वह इस ढंग का बना हुआ है जिसमें जनाना और मर्दाना मिला-जुला है। केवल मर्दाना अलग नहीं है। यदि किसी प्रकार अब तक गुजारा किया भी गया है तो प्रारम्भिक अभ्यासियों के लिये उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि उनको एकान्त की आवश्यकता है। सत्संग के समय यहाँ जैसा एकान्त चाहिये, नसीब नहीं होता। उसके लिये एक घर बिल्कुल अलग होना चाहिये, चाहे वह टूटा-फूटा ही क्यों न हो, किन्तु चारों ओर दीवार हो, एक कुँआ और शौचालय हो और एक बड़ा कच्चा-पक्का छप्पर का कमरा हो जहाँ सत्संग हो और उसके पश्चात् उसमें बाहर के लोग ठहर भी जावें।

यदि उसका और विस्तार किया जाय तो जिन सैकड़ों स्कूलों के होते हुए भी हजारों नये स्कूल शिक्षा के लिये खोले जा रहे हैं, उनके साथ-साथ एक इस प्रकार का भी विद्यालय स्थापित किया जाय जहाँ दो-चार लोग ब्रह्मविद्या में निपुण इस कार्य के लिये खोज लिये जायें जिससे एक विशेष प्रबन्ध के द्वारा

ब्रह्मविद्या के इच्छुकों को यह विद्या सिखाई जाये। इस प्रकार के जानकार लोग मिल सकते हैं और मेरी दृष्टि में हैं, किन्तु जब तक उनके लिये एक ऐसा फ़ण्ड न हो जिससे उनकी उदर पूर्ति हो सके, वे वहाँ कैसे रह सकते हैं। यदि वे अपने घरों पर ही ब्रह्मविद्या की शिक्षा दें जैसा कि वे अब भी कर रहे हैं तो उन्हें इस काम के लिये समय कम मिलता है क्योंकि वे अपनी जीविका उपार्जन के कार्यों में भी समय देते हैं। किन्तु जब इसमें कमी होती है, आवश्यकतानुसार जीविका पूर्ति नहीं होती तो वे परेशान रहा करते हैं और जैसी सफ़ाई के साथ शिक्षा होनी चाहिये, नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उनमें मौहल्ले और नगर निवासियों का विश्वास नहीं होता और विश्वास न होने के कारण वे लोग उनसे लाभ नहीं उठा सकते। बाहर के लोग प्रथम तो अपनी व्यस्तता के कारण नहीं आ सकते और यदि कोई व्यक्ति विशेष आ भी जाय तो ठहर नहीं सकता। इसके अतिरिक्त जब एक विशेष संस्था के विषय में जानकारी हो जाये कि इस प्रकार की शिक्षा का अमुक जगह प्रबन्ध है तो लोगों को खोजने में सुविधा होती है और उन्हें किसी की परीक्षा आदि नहीं लेनी पड़ती।

अब यदि बाहर जाकर घूम-फिरकर जिज्ञासुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय तो अपने घर के खर्च का और सफ़र के खर्च का प्रबन्ध पहले से होना चाहिये। माँग-माँग कर यह काम करना कठिन और दूभर है। यह काम संन्यासियों का है।

अब आप एक और कठिनाई पर ध्यान दें जिसकी शायद आपको जानकारी है या नहीं। जानने वालों की मौत है। हमारे यहाँ सत्संगी भाइयों में किसी-किसी की ऐसी स्थिति है कि रोटियों को मोहताज हैं। उनके बच्चों के पास कपड़े नहीं हैं। शिक्षा के लिये शुल्क और पुस्तकों के लिये पैसा नहीं है। कन्यायें

युवा हो रही हैं, पैसे के अभाव में विवाह नहीं हो सकता। लज्जा के कारण माँग भी नहीं सकते। किन्तु मुझसे तो अपना हाल छिपाते नहीं और जब मुझको ऐसी कुछ घटनायें ज्ञात हुईं तो आप लोगों को उसकी क्या खबर है। उनका हाल देख-देख कर मेरा कलेजा मुँह को आता है। मेरे पास इतना है नहीं कि उनकी सहायता कर सकूँ। इसलिये मैंने आप सज्जनों से एक फ़ण्ड खोलने का निवेदन किया था। अपने लिये नहीं बल्कि उन कामों के लिये जो ऊपर लिखे गये हैं। किन्तु केवल चार आने के चन्दे से यह कार्य नहीं हो सकते हैं और जब तक कि वे उपाय, जो मैंने बतलाये हैं, व्यवहार में न लाये जायें, काम नहीं चलेगा।



रामाश्रम सत्संग के प्रकाशन

(१) भजन संग्रह	र० प० ०.५०
(२) अमृत रस (परमसंत महात्मा रामचन्द्र जी महाराज के पत्रों का संकलन) (सजिल्द)	३.००
(३) जीवन चरित्र (परमसंत महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) (सजिल्द)	३.००
(४) फ़कीरों की सात मंजिलें (सन्त-सप्त-दर्शन) (सजिल्द)	१.५०
(५) साधन चतुष्टय	०.२५
(६) Discourses on Hindu Spiritual Culture (By Param Sant Prof. A. K. Banerjee) (सजिल्द)	१५.००
(७) गुरु शिष्य संवाद	३.००

मिलने का पता :—

- (१) आचार्य, रामाश्रम सत्संग, सिकन्द्राबाद, बुलन्दशहर
- (२) मैनेजर, राम संदेश, गाज़ियाबाद (उ० प्र०)